साहित्यिक समालोचना

सम्पादक :—

प्रो० एम० के० सरकार

प्राप्ति स्थान :—

योगेन्द्रपाल खन्ना एण्ड सन्ज़ लिमिटेड

८१/८२ एफ, कमला नगर,

सब्ज़ी मण्डी, दिल्ली।

द्वितीय संस्करण] [मूल्य ४)

साहित्यिक समालोचना

Rup Kishori Bhan Bhushan

सम्पादक—

प्रो० एम० के० सरकार

अध्यक्ष—संस्कृत विभाग,

डी० ए० वी० कालेज, लाहौर।

द्वितीय संस्करण] फरवरी, १९४६ [मूल्य ४) रु०

प्रकाशक—
साहित्य भवन
देहली

मुद्रक—
१ से २०८ तक—शान्ति प्रेस,
२०९ से ३१० तक—विजय प्रेस,
नया बाज़ार, देहली।

भूमिका

नए ढङ्ग की आलोचना हिन्दी में एक नई चीज़ है। उन्नीसवीं सदी की तीसरी दशाब्दि तक हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में पं० पद्मसिंह शर्मा की आलोचनात्मक शैली का बोलबाला था। भाषा लालित्य और मनोरंजकता की दृष्टि से वह आलोचना बहुत अच्छी थी; उसे पढ़ते हुये पाठक की इच्छा होती थी कि उसके पास कोई और भी बैठा हो, जिसे वह उक्त आलोचना पढ़ कर सुनाये और सम्मिलत क़हक़हे लगाने का आनन्द ले। परन्तु आलोचना शास्त्र के वर्तमान मापदण्डों के आधार पर वह आलोचना बहुत दोषपूर्ण थी। उसमें अतिशयोक्ति से बहुत काम लिया जाता था—प्रशंसा करते हुए भी और निन्दा करते हुए भी ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिला देना उस ढङ्ग की आलोचना में कला का प्रतीक माना जाता था।

परन्तु उन्नीसवीं सदी की चौथी दशाब्दि से, अर्थात् अब से सिर्फ १६ वर्ष पहले से हिन्दी में नए ढङ्ग की आलोचना की क़ीमत बढ़ने लगी। अतिशयोक्तिपूर्ण आलोचना का स्थान नपी-तुली और निश्चित माप-दण्डों वाली आलोचना ने ले लिया। उसी का परिणाम है कि आज हिन्दी में बहुत श्रेष्ठ कोटि के अनेक आलोचक विद्यमान हैं।

इस संग्रह में हम हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचकों की आलोचनायें तथा आलोचनात्मक विचार एकत्र कर रहे हैं। हमने यह भी प्रयत्न किया है कि प्रगतिशील हिन्दी-साहित्य का एक भी अंग इस आलोचना से अछूता न रहे। साहित्य के सभी अंगों पर प्रामाणिक आलोचकों ने जो प्रकाश डाला है, उसी का संग्रह इस ग्रन्थ में दे रहे हैं। हमें विश्वास है कि हिन्दी-साहित्य प्रेमी हमारे इस प्रयत्न को सहृदयता के साथ देखेंगे।

संपादक

सूची

सं०		पृष्ठ
१.	साहित्य का तात्पर्य—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर	६
२.	साहित्य साधना—आचार्य श्री क्षितिमोहन शास्त्री	१६
३.	यथार्थवाद और रहस्यवाद—श्री जयशंकर प्रसाद	३५
४.	उपन्यास क्या है ?—आचार्य श्री महावीर प्रसाद 'द्विवेदी'	३७
५.	समालोचना—डा० रामकुमार वर्मा	५२
६.	आलोचना के आधार—श्री शिवनाथ	७०
७.	बोलियों का प्रश्न—पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी	८१
८.	साहित्य में क्लिष्टता—श्री सियाराम शरण गुप्त	९६
९.	साहित्य में हास्य-रस—श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र	१०४
१०.	नवीन काव्यशैली—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	११८
११.	वर्तमान हिन्दी कविता और उसकी प्रगति—श्री ब्रजमोहन गुप्त	१३७
१२.	रहस्यवादी कविता का केन्द्रबिन्दु—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी	१४६
१३.	काव्य में अस्पष्टता—प्रो० रामखेलावन	१६०
१४.	आधुनिक काव्य के आलोचक—प्रो० नगेन्द्र	१७४
१५.	आधुनिक हिन्दी-साहित्यिक नाटक—पं० उदयशंकर भट्ट	१९२
१६.	हिन्दी कहानी की प्रगति—प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त	२१७
१७.	प्रगतिवाद और हिन्दी पर उसका प्रभाव—श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	२२६
१८.	साहित्य कला और प्रचार—प्रो० भीष्म साहनी	२५२
१९.	प्रेमचन्द की कला—प्रो० रामविलास शर्मा	२६६
२०.	जयशंकर 'प्रसाद' : एक अध्ययन—श्री रामनाथ 'सुमन'	२८८

Rup Kishori Dhar.

साहित्यिक समालोचना



साहित्य का तात्पर्य

(महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

बाह्य जगत् हमारे मन के अन्दर प्रवेश करके एक दूसरा जगत् बन जाता है। उसमें केवल बाह्य जगत् के रङ्ग, आकृति तथा ध्वनि आदि ही नहीं होते, अपितु उसके साथ हमारा अच्छा-बुरा लगना, हमारा भय-विस्मय, हमारा सुख-दुःख भी मिला रहता है—(बाह्य संसार) हमारी हृदयवृत्ति के विचित्र रस में—नाना प्रकार से आभासित होता है।

इसी हृदयवृत्तिके रसमें जीर्ण करके हम बाह्य जगत्को विशेष रूपसे अपना बना लेते हैं। जिस तरह जिनके उदर में पचाने वाला रस पर्याप्त मात्रा में नहीं होता, वे बाह्य खाद्य पदार्थको अच्छी तरह अपने शरीरकी वस्तु नहीं बना सकते; उसी तरह जो हृदयवृत्ति के जारक रसका उपयोग संसार में पर्याप्त मात्रामें नहीं कर सकते, वे बाह्य जगत्को अन्दरका जगत्, अपना जगत् अर्थात् मानुषीय जगत् नहीं बना सकते।

कुछ इस प्रकार के जड़ प्रकृतिके मनुष्य हैं जिनके हृदयोंमें संसारके अत्यन्त अल्प विषयोंके प्रति उत्सुकता होती है—वे

संसारमें जन्म लेकर भी अधिकांश जगत् से वञ्चित रहते हैं। उनके हृदयकी खिड़कियाँ संख्या में कम और चौड़ाईमें सङ्कीर्ण होती हैं, इसलिए संसार के बीच में वे प्रवासी-से हैं।

कुछ इस प्रकारके सौभाग्यवान् मनुष्य भी हैं जिनका विस्मय प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है—प्रकृतिके कोने कोनेसे उनको निमन्त्रण मिलता है; संसारके नाना आंदोलन उनकी चित्त-वीणा को नाना रागिणियोंमें स्पन्दित कर देते हैं।

बाह्य जगत् इनके मन के बीच हृदयवृत्ति के नाना रसों में, नाना रङ्गों में, नाना साँचों में अनेक प्रकारसे बन जाता है।

भावुकोंके मनका यह जगत् बाह्य जगत्की अपेक्षा मनुष्यका अधिक अपना है। वह हृदयकी सहायतासे मनुष्यके हृदयके लिए अधिक सुगम हो जाता है। वह हमारे चित्त के प्रभाव से जो विशेषता प्राप्त करता है, मनुष्य के लिए वही सबसे अधिक उपादेय है।

इसीलिए देखा जाता है कि बाह्य जगत्में तथा मनुष्य-जगत् में बड़ा अन्तर है। कौन-सी वस्तु सफेद है, कौन-सी काली है, कौन-सी बड़ी है, कौन-सी छोटी है—मनुष्य-जगत् इनकी केवल सूचना ही नहीं देता है; किन्तु कौन-सी वस्तु प्रिय है, कौन-सी अप्रिय, कौन-सी वस्तु अच्छी है, कौन-सी बुरी—मनुष्य-जगत् इसी बात को नाना सुरों में कहता है।

यही मनुष्य-जगत् हमारे हृदय-हृदयमें प्रवाहित होता हुआ आता है। यह प्रवाह पुरातन एवं नित्य नवीन है। नई-नई

इन्द्रियों--नये-नये हृदयोंके भीतर होकर यह सनातन स्रोत सदा से नया होकर बह रहा है।

किन्तु इसको किस प्रकार प्राप्त किया जाय? इसको किस तरीकेसे पकड़कर रक्खा जाय? इस अपरूप मानस-जगत्‌को रूप देकर दुबारा प्रकाशित न कर सकनेपर यह सदा ही सृष्ट एवं सदा ही विनष्ट हुआ करता है।

किन्तु यह वस्तु नष्ट नहीं होना चाहती। हृदयका जगत अपने को व्यक्त करनेके लिए व्याकुल रहता है। इसीलिए चिरकाल से मनुष्यके अन्दर साहित्य का आवेग है।

साहित्यका विचार करते समय दो बातोंपर विचार करना पड़ता है। प्रथम— लेखकके हृदयका संसारके ऊपर कितना अधिकार है? द्वितीय—वह स्थायी रूपमें कितना व्यक्त हुआ है?

हमेशा इन दोनोंके बीचमें सामञ्जस्य नहीं होता। जहाँ होता है, वहाँ सोनेमें सुहागा होता है।

कवि का कल्पना-सजीव हृदय जितना विश्वव्यापी होता है, उस की रचनाकी गम्भीरतामें हमारी संतुष्टि उतनी ही बढ़ जाती है। उतनी ही मानव-संसारकी सीमाके विस्तृत होनेसे हमारा चिरन्तन विहारका क्षेत्र विपुलताको प्राप्त करता है।

किन्तु रचनाशक्तिकी निपुणता भी साहित्यमें अत्यन्त मूल्यवान् है। क्योंकि जिसका सहारा लेकर वह शक्ति व्यक्त होती है, उसके अपेक्षाकृत तुच्छ होनेपर भी यह शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं होती। यह भाषा तथा साहित्यमें इकट्ठी होती रहती है। इसके

द्वारा मनुष्यकी प्रकाश करनेकी क्षमता बढ़ जाती है। इस क्षमता को प्राप्त करनेके लिए मनुष्य सदा से व्याकुल है। जिन कृतियों की सहायतासे मनुष्य की यह शक्ति परिपुष्ट होती है, मनुष्य उनको यशस्वी बनाकर उनसे उऋण होने की चेष्टा करता है।

जो मानस-जगत् हृदयके भावोंके उपकरणोंके द्वारा अन्दर सृष्ट होता है, उसको बाहर प्रकाशित करनेका कौन-सा तरीक़ा है ?

उसको इस तरह व्यक्त करना होगा जिससे हृदयका भाव सुस्पष्ट हो जाय। हृदयके भावोंको सुस्पष्टतया व्यक्त करनेमें बहुत सी सामग्री लगती है।

पुरुषके दफ्तर जानेके कपड़े सीधे सादे होते हैं, वे जितने कम हों उतने ही कार्यमें उपयोगी होते हैं। स्त्रियोंकी वेश-भूषा, लज्जा-शर्म, भाव-भङ्गी समस्त ही सभ्य समाजोंमें प्रचलित है।

स्त्रियों का कार्य हृदय का कार्य है। उनको हृदय देना पड़ता है और हृदय को खींचना पड़ता है—इसलिए बिलकुल सरल सीधा सादा और नपा नपाया होनेसे उनका कार्य नहीं चलता। पुरुषोंको यथायोग्य होना आवश्यक है किन्तु स्त्रियोंको सुन्दर होना चाहिए। मोटे तौरसे पुरुषोंके व्यवहारका सुस्पष्ट होना ही अच्छा है; किन्तु स्त्रियोंके व्यवहारमें अनेक आवरण और आभास-इंगित होने चाहिएँ।

साहित्य भी अपनी चेष्टाको सफल करनेके लिए अलङ्कारोंका, रूपकोंका, छन्दोंका और आभास-इङ्गितोंका सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान के समान निरलंकृत होनेसे उसका गुज़ारा नहीं हो सकता।

यदि अपरूपको रूपके द्वारा अभिव्यक्त किया जाय, तो वाणी-के अन्दर अनिर्वचनीयताकी रक्षा करनी पड़ती है। जिस प्रकार स्त्रियों की सुन्दरता और लज्जा होती है, साहित्यकी अनिर्वचनीयता भी वैसी ही होती है। वह अनुकरणातीत है। वह अलङ्कारोंको अतिक्रम कर देती है, वह अलङ्कारों द्वारा आच्छन्न नहीं होती।

भाषाके बीचमें इस भाषातीतको प्रतिष्ठित करनेके लिए साहित्य मुख्यतः दो वस्तुओंको मिलाया करता है—एक चित्रको और दूसरे सङ्गीतको।

वाणीके द्वारा जिसे नहीं कहा जा सकता उसे चित्रके द्वारा कहना पड़ता है। साहित्यमें इस प्रकारकी चित्र-रचनाकी सीमा नहीं है। उपमा, तुलना और रूपकके द्वारा भाव प्रत्यक्ष होना चाहते हैं। "देखिवारे आँखि-पाखि धाय" अर्थात् "देखनेके लिए आँखपक्षी दौड़ता है" इसी एक बातमें कवि बलरामदासने क्या नहीं कह दिया है? एकमात्र वर्णन करनेमें व्याकुल दृष्टिकी व्याकुलता किस प्रकार व्यक्त की जा सकती है? दृष्टि पक्षीकी तरह उड़कर दौड़ी है, इस चित्रसे अभिव्यक्त करनेकी बहुत-सी व्याकुलता मुहुर्त में शान्ति को प्राप्त हो गई है।

इसके अतिरिक्त छन्दोंमें, शब्दोंमें, वाक्यविन्यासमें साहित्यको सङ्गीतका आश्रय तो लेना ही पड़ता है। जिसको किसी प्रकार भी कहा नहीं जा सकता, उसे सङ्गीतके द्वारा ही कहना है। जो वस्तु अर्थके विश्लेषण करने पर अत्यन्त सामान्य प्रतीत होती है, वही सङ्गीतके द्वारा असामान्य हो जाती है। यह सङ्गीतही वाणी-में वेदनाका संचार कर देता है।

अतएव चित्र और सङ्गीत ही साहित्यके प्रधान उपकरण हैं। चित्र भावको आकार देता है और सङ्गीत भावको गति प्रदान करता है। चित्र देह है और सङ्गीत प्राण है।

किन्तु केवल मनुष्यका हृदयही साहित्यमें पकड़ रखने योग्य वस्तु नहीं है। मनुष्यका चरित्र भी एक इस प्रकारकी सृष्टि है, जो जड़-सृष्टिकी तरह हमारी इन्द्रियों द्वारा अधीन नहीं होती। वह 'खड़े हो जाओ' कहने मात्र से खड़ी नहीं हो जाती। वह मनुष्यके लिये अत्यन्त उत्सुकताजनक है; किन्तु उसको पशुशाला के पशुके समान बाँधकर बड़े पिंजरे में बन्द करके टकटकी लगाकर देखने का कोई सुगम उपाय नहीं है।

इन्हीं कड़े नियमोंसे अतीत, विचित्र मानव-चरित्र है—साहित्य इसीको अन्तर्लोकसे बाहर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह अत्यन्त दुरुह कार्य है। क्योंकि मानव चरित्र स्थिर तथा सुसङ्गत नहीं है, उसके अनेक अंश और तहें हैं—उसके अन्दर-बाहर बेरोक-टोक गमनागमन करना सुगम नहीं है। इसके अतिरिक्त उसकी लीला इतनी सूक्ष्म है; इतनी अभावनीय है, इतनी आकस्मिक है कि उसे पूर्णरूपसे हमें हृदयगम्य करा देना असाधारण शक्तिका ही कार्य है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि यही कार्य करते आये हैं।

यदि हमारे समस्त विचारणीय विषय को संक्षेपसे कहा जाय तो यही कहना होगा कि साहित्य का विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र है।

किन्तु 'मानव-चरित्र' यह कहना भी मानो आवश्यकता से अधिक है। वस्तुतः बाह्य प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के

हृदय के अन्दर प्रतिक्षण जो रूप धारण करते हैं, जिस सङ्गीतको ध्वनित करके उठाते हैं, भाषारचित वही चित्र और वही गान साहित्य है।

भगवान्का आनन्द प्रकृतिके बीचमें, मानव-चरित्रके बीचमें अपने को स्वयं सृष्ट कर रहा है। मनुष्यका हृदय भी साहित्यमें अपनेको सृजन करनेके लिए, व्यक्त करनेके लिए चेष्टा कर रहा है। इस चेष्टाका अन्त नहीं है, यह एक विचित्र बात है। कवि लोग मानव-हृदयकी इस चिरन्तन चेष्टाके उपलक्ष्यमात्र हैं।

भगवान्की आनन्दसृष्टि अपने अन्दरसे स्वयं निकल रही है। मानव-हृदयकी आनन्दसृष्टि उसीकी प्रतिध्वनि है। इसी जगत्-सृष्टिके आनन्दगीतकी झङ्कार हमारी हृदय-वीणातंत्रीको अहरहः स्पन्दित करती है। यही जो मानस-सङ्गीत है—भगवानकी सृष्टिके प्रतिघातमें हमारे अन्दर यही जो सृष्टिका आवेग है,—उसीका विकास साहित्य है। संसारका निश्वास हमारी चित्तवंशीमें कौन सी रागणीको बजा रहा है—साहित्य उसी को स्पष्ट करके व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है। साहित्य किसी व्यक्तिविशेष का नहीं है, वह रचयिताका नहीं है—वह तो देववाणी है। बाह्य सृष्टि जिस प्रकार अपनी अच्छाई, बुराई, अपनी असम्पूर्णताको लेकर चिर-कालसे व्यक्त होनेकी चेष्टा कर रही है—यह वाणी भी उसी प्रकार देश-देशमें, भाषा-भाषामें हमारे अन्तस्तलसे बाहर होने के लिए निरन्तर प्रयत्न कर रही है।

—:०:—

[२]

साहित्य-साधना

(आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन शास्त्री)

'साहित्य' शब्द के मर्म का परिचय अत्यन्त मनोरंजक है। पण्डितों ने बताया है कि वह 'सहित' (=मिलन) शब्द से निष्पन्न होता है—अर्थात् जहाँ नाना उपकरणों का मिलन हुआ है, वह जिससे स्थान-काल आदि द्वारा व्यवहित हृदय के सहित हृदय का मिलन घटित होता है, वही साहित्य क्यों नहीं होगा ? यह मैं ज़बरदस्ती स्वीकार नहीं कराना चाहता। नो सौ वर्ष पूर्व आलंकारिक शिरोमणि भट्ट मम्मट भी हमारे हाथों यह सत्य दे गए हैं। अभिनय-नाट्यादि देखने से हमें जिस सुख दुःख के भाव की अनुभूति होती है, वह क्या एकान्त हमारा ही सुख दुःख है अथवा दूसरे का ? मम्मट भट्ट कहते हैं :—

ममैवैते शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते;

न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्ध विशेष स्वीकार परिहार नियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैर् अभिव्यक्तः (काव्यप्रकाश, ४र्थ उल्लास)।

–'ये सब भाव मेरे, मेरे शत्रु के अथवा तटस्थ किसी के हैं, या न मेरे, न मेरे शत्रु के और न तटस्थ किसी के हैं—यह समस्त संकीर्ण सम्बन्ध-विशेष स्वीकार अथवा परिहार यहाँ नहीं चलता। साहित्य-रसक्षेत्रमें जो भाव होता है, वह साधारण—समस्त सम्बन्धातीत—है।'

आगे चलकर मम्मट कहते हैं—'साधारण भाव के बल से उस समय के सब परिमित प्रमातृभाव विगलित हो जाते हैं। उससे एक ऐसे अपरिमित भाव का उन्मेष होता है, जिसमें और कोई वेद्यान्तर सम्पर्क टिक नहीं पाता। सभी सहृदय जनों के हृदय के एक ही भाव द्वारा रस वस्तु उपलब्ध होती है।' यहाँ वेद्यान्तर सम्पर्कशून्यता ध्यान देने की बात है। रसलोक में 'सकल सहृदय संवादभाक्' रसभाव के अतिरिक्त और कोई जाना हुआ उद्देश्य नहीं हो सकता।

उस रस को किस तरह समझाया जाय? मम्मट भी उसे समझा न सके और केवल इतना ही कहकर रह गए कि 'हमारे सम्मुख सुर, अभिनय, वाक्य प्रभृति के समन्वय से यह रस मानो परिस्फुट होता है। यह मानो हमारे अन्तर में प्रवेश कर जाता है, मानो सब ओर से हमें अपने प्रेमालिंगनमें आबद्ध कर लेता है। उस समय मानो और सब विचार, वितर्क, विवेचना, उद्देश्य आदि तिरोहित हो जाते हैं, मानो उस समय एक प्रकारसे मुक्ति-स्वरूप ब्रह्मानन्द की ही उपलब्धि होती है। यह रस अलौकिक चमत्कार करने वाला है।' इस सम्पूर्ण विवेचना से हमें ज्ञात होता है कि साहित्य का आनन्द समस्त सहृदयों के हृदयमें

एक अपूर्व आनन्द-रस का दान करता है, जिसे योग-रस कह सकते हैं। एक चित्त को इस प्रकार दूसरे चित्त के साथ रसानन्द द्वारा युक्त करने के कारण ही वह वास्तव में साहित्य कहलाता है।

पण्डित-मण्डली में आज प्रायः प्रश्न उठते हैं कि साहित्य द्वारा क्या क्या किया जा सकता है। मम्मट भट्ट इसका उत्तर नौ सौ वर्ष पूर्व ही दे गये हैं। वह वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य होता है—अर्थात् ज्ञान, विचार, उद्देश्य आदि उसका लक्ष्य नहीं है। वह एक अपरिमित भाव तथा हृदय-बन्धन द्वारा समस्त भेद-विभेद लुप्त कर देता है। साहित्य के विषय में इससे बड़ी बात आज तक और किसने कही है? उद्देश्य, विवेचना, सम्बन्ध आदि की सीमा लाँघकर रस हमें आनन्द के सीमाहीन लोक में मुक्ति देता है, इसी से उसमें हम ब्रह्मानन्द का आभास पाते हैं। एक प्रकार से यही रस हमारा मुक्तिदाता गुरु है। यह सब केवल मम्मट का उद्भावित सत्य नहीं है। उनसे भी पूर्व उनके गुरु—सार्वभौम आचार्य अभिनवगुप्तपाद—इस मत की स्थापना कर गये हैं। इस तरह यह बात प्रायः हज़ार बरस पहले ही प्रतिपादित हो गई थी।

रस और साहित्य की इस निगूढ़ शक्ति को वैदिक ऋषियों ने भी अनुभव किया था। इसीलिए अथर्वाङ्गिरस ऋषि समग्र चित्त को एक करने जाकर सरस्वती के शरणापन्न हुए—'ओते मे द्यावा पृथ्वी ओता देवी सरस्वती।'—द्यौ और पृथ्वी मुझमें अन्तर्व्याप्त हैं, देवी सरस्वती मुझ में अन्तर्व्याप्त हैं—अर्थात् प्रत्येक

के अन्तर में निखिल जगत् एवँ सरस्वती अन्तर्व्याप्त है। इसीसे हृदय-हृदय के भीतर सरस्वती द्वारा ही विश्व-योग सम्भव होता है।

ऋषि शौनक कहते हैं :—

'यस्ते स्तनः शशयुर्योमयोभूर्
यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्य्याणि
सरस्वती तमिह धातवे कः॥'

अर्थात्—हे सरस्वती, तुम्हारे जो निगूढ स्तन अपनी रसधारा द्वारा तुम्हारी सन्तान को पुष्ट करते हैं, जिसका आह्वान करते ही उत्तर पाया जाता है (सुहव), जो उदार दानशील है, जिसके द्वारा विश्व की समग्र वरेण्य सम्पद तुम पोषण करती हो, उसी के रस से आज हमारे अन्तरमें ज्ञान-चेतना और जीवनके उपकरण परिपूर्ण कर दो!

ऋषि शन्तातिं कहते हैं :—

'शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वती
मा ते युयोम सँदृशः।'

अर्थात्—हे सरस्वती, तुम हमारे लिए कल्याणतमा होओ, शोभन सुखप्रदा होओ, तुम्हारी समीचीन दृष्टिसे हम कभी भी बाहर न पड़ें।

मानव की महिमा वर्णन करते हुए नारायण ऋषि कहते हैं—'मनुष्य का सब ऐश्वर्यो से बड़ा ऐश्वर्य उसका ज्ञान है, सँगीत और नृत्य है।'

'मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को नृतो दधौ ॥'

अर्थात्—किसने उसके भीतर मेधा का सँचार किया ? किसने उसे सँगीत और नृत्य का दान किया ?

कवि जगत के निगूढ़ रस—हृदय के गँभीरतम सत्य—की उपलब्धि करता है, इसी से वह पूज्य है। इसी से वैदिक ऋषि कहते हैं :—

'अचिकित्वां श्चिकितुषश्चिदत्र ।
कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान ॥'

अर्थात्—समझता नहीं हूँ, इसी से जो समझते हैं, उन कवियों के निकट जिज्ञासा करता हूँ; नहीं जानता, इसी से जो सब कवि जानते हैं, उनके निकट जिज्ञासा करता हूँ।

ये कवि ही जगत का सार-तत्व जानते हैं, वही सत्य मनुष्य के अन्तर में रस-रूप से विराजमान है। वे ही विश्व-चित्त को पुकार कर सब के हृदय में ऐक्य और योग सँचार करने में समर्थ हैं। ऋषि जमदग्नि अग्नि-आवाहन के समय कवि के सम्बन्ध में इसीलिए कहते हैं—'सब मित्रों से कहीं अधिक तुम मित्र हो, कवि हो, ज्ञानी हो; तुम्हारी दृष्टि अग्रवर्ती है और वही दृष्टि तुम अन्य को देनेमें भी समर्थ हो—अर्थात् तुम प्रचेता हो। तुम विश्व-चित्त के दूत हो। सबका तुम यहां आवाहन करो !' (आच वह मित्रमहश् चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः।)

कवि का एक लक्षण अद्भुत भाव से एक मन्त्र में कहा गया है—'अमुत्र सन्निह वेत्थेतः सँस्थानि पश्यसि।'—यहाँ रहते हुए तुम वहाँ का रहस्य जानते हो, वहाँ रहते हुए तुम यहाँ का मर्म

देख पाते हो। अन्यत्र ऋषि कहते हैं—विचित्र रूप, दर्शनीय रूप और विश्व-दर्शन—इन तीन छन्दोंकी साधना कवि कर गए हैं। यही तीन छन्द जलवायु और औषधि हैं। इस भुवनमें ही छन्द की यह त्रिवेणी प्रवाहित है :—

'त्रीणि छन्दांसि कवयो वियेतिरे
पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आयोवाता ओषधयस्
तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥'

कवि की यह शक्ति भगवद्दत्त होती है। साधना द्वारा इसे जाग्रत करना होता है। कवित्व का झूठ-मूठ भान करने से काम नहीं चल सकता :—

'कवीयमानः क इह प्रवोचद्।
देवं मनः कुतो अधिप्रजातम् ॥'

अर्थात्—कवित्व का आडम्बर-मात्र करने वाले इन रहस्यों का कैसे प्रकाश कर सकते हैं? कहां से वह दिव्यमानस जन्म लाभ करेगा?

कवि जिस ब्रह्मवाणी का उच्चारण करते हैं, वही चराचर विश्व की प्राण-वस्तु है। पृथिवी-द्युलोक में कहीं वह प्राण-रस नहीं है, जिसके बल पर तरु-लता नित्य नवजीवन द्वारा जीवन्त है :—

'इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति विरुधः ॥'

अपूर्व के द्वारा उच्छ्वसित वाणी ही इस रहस्य को ठीक-ठीक

व्यक्त करती है—'अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।' कवि इसीसे कालातीत होता है—चिन्मय अमृत-रससे वह अमर हो जाता है। इसीसे ऋषियों ने कहा है, कवि उस रथ पर आरोहण करते हैं, विश्व-ब्रह्मांड जिसके चक्र हैं—सहस्राक्ष जरा-रहित बहुप्राणी-बीजयुक्त सप्तरश्मि काल-अश्व वह रथ अनाद्यन्त चलता रहता है। सच्चे कवि इस पर आसीन होते हैं और काल-अश्व द्वारा उसे चलाकर अमृत लोक की जय-यात्रा करते हैं :—

'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः।
सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः॥
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्।
तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥'

किन्तु सवाल यह है कि आखिर रस और सौन्दर्य का प्रयोजन ही क्या है? प्रयोजन के अतीत है रस का यह जगत्, इसे हमें खूब भली प्रकार ग्रहण करना होगा। ग्रीक तत्वज्ञों से लेकर वर्त्तमान यूरोपके मनीषी सौंदर्य के इस प्रयोजनातीत साधारण लक्षण की चर्चा कर गए हैं। काव्य, अभिनय, चित्र, सङ्गीत प्रभृति से क्या क्षुधा मिटती है, शीत कटती है? यह रहस्य वैदिक ऋषि को अच्छी तरह ज्ञात था। अथर्ववेद के एकादश कांड का नवम सूक्त इसीलिए 'उच्छिष्ट' अर्थात् प्रयोजन से अतिरिक्त है। कला, साहित्य, संस्कृति का सभी कुछ उसमें उच्छिष्ट है। यहाँ तक कि ऋक्-साम-यजु—ये समस्त उच्छिष्ट हैं। उद्-

गाता और प्रस्तोता के गान भी उच्छिष्ट हैं। स्तववन्दना, सङ्गीत की हिंकार, स्वर-लहरी, सामगान का स्वर-सामञ्जस्य—ये सभी उच्छिष्ट हैं। ऋषि कहते हैं, यह समस्त उच्छिष्ट अर्थात् ऐश्वर्य मुझमें आहित हो :—

ऋक् साम यजुरुच्छिष्टे उद्‌गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिंकार उच्छिष्टे स्वरं साम्नो मेद्रिश्च तन्मयि॥'

केवल वेदादि ही नहीं, आनन्द, मोद, प्रमोद एवं अभिमोदयुक्त सभी कुछ उच्छिष्ट से उत्पन्न है। दिव्यलोकमें दीप्यमान् द्युलोकाश्रित सभी कुछ उच्छिष्ट है :—

'आनन्दा मोदाः प्रमुदोभीमोदश्च ये।
उच्छिष्टाज्जिज्ञरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥'

रस और सौंदर्य प्रयोजन से अतीत होने पर भी आज तक टिके क्यों हैं? वहां साधक कहते हैं—सौंदर्य ही अनुनय है। अभ्यासवश हमारा चित्त उदासीन होता है। इसी से हमारे निकट अपनी विनय जताता है—हमारी ओर भी ज़रा ताक लो; हम सारी सुषमा लेकर अनुरोध कर रहे हैं।' इसी से विश्व-प्रकृति के समस्त सौंदर्य में, पुष्प के वर्ण में, उषा सन्ध्या के अपूर्व राग में, गिरि-सागर की गम्भीर नीलिमा में विधाता हमें अनुनयपूर्वक पुकारते हैं—'ज़रा-सा देख लो, ज़रा-सा देख लो।' तब हमारा उदासीन मन भी सचेतन होकर ताकता है। किन्तु यदि न ताकें तब नाना ऋतुयें हैं, उनके नाना महोत्सवों में सौंदर्य का महासमारोह है, जिससे हम ताक सकें, पल भर देख सकें।

यही अनुनय भाषामें भी छन्द, सुर आदि द्वारा अपने नाना उपचार ले आता है। इस रस, छन्द, सुर द्वारा पुकार कर हृदय का जो योग किया जाता है, उसी का नाम 'साहित्य' है। प्रतिदिन सन्तान का सौंदर्य देखते हुए भी पिता-माता की अभ्यस्त दृष्टि जैसे सौंदर्य को भूल जाती है, चूक जाती है। विवाह के दिन अलका-तिलका पत्रलेखा में कन्यापुत्रका सजा हुआ मुख देख कर पिता-माता भी उस खोए हुए सौंदर्य को देख पाते हैं और मानो हठात् उनके मुख से निकल पड़ता है—'वही तो! इसका मुख इतना सुन्दर था।'

साहित्य-रस की पुकार सुन कर जब हमारा चित्त सर्वचित्तके सहित मिलकर एक होता है, तभी हम नवदृष्टि, नवबल, नव-शक्ति लाभ करते हैं। प्रति विन्दु सागर की ओर जाने के लिए उन्मुख है; किन्तु केवल एक ही बूँद यदि अकेली सिन्धु-यात्रा करने चले, तब रास्ते में ही अपना अस्तित्व खो बैठेगी। इसीसे साधक रज्जब कह गए हैं :-

'प््रतीत अकेली व्यर्थ महासिन्धु विरही दिल होय।
बूँद पुकारे बूँद को गति मिलै सँजोय॥
अकेले बूँद पहुँचै नहीं सूखै पन्थ जीव जोर।
पंथ भरभरे एक होय दरस दया प्रभु तोर॥'

---

[३]

यथार्थवाद और रहस्यवाद

(श्री जयशंकर प्रसाद)

हिन्दी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं। साहित्य के पुनरुद्धार काल में श्री हरिश्चन्द्र ने प्राचीन नाट्य रसानुभूति का महत्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भाव-धारा को वेदना तथा आनन्द में नये ढङ्ग से प्रयुक्त किया। नाटकों में "चन्द्रावली" में प्रेम रहस्य की उज्ज्वल नीलमणि वाली रस परम्परा स्पष्ट थी और साथ ही "सत्य हरिश्चन्द्र" में प्राचीन फल योग की आनन्दमयी पूर्णता थी, किन्तु "नील देवी" और "भारत दुर्दशा" इत्यादि में राष्ट्रीय अभावमयी वेदना भी अभिव्यक्त हुई।

श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। "प्रेम योगिनी" हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी का समझता हूँ। प्रतीक विधान चाहे दुर्बल रहा हो; परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिन्दी में उसी

समय प्रारम्भ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्था वाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परम्परा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उस की परिस्थिति का चित्रण भी हिन्दी में उसी समय आरम्भ हुआ। 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' वाला सिद्धान्त कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।

यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उस में स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। भारत के तरुण आर्य्य संघ में सांस्कृतिक नवीनता का आंदोलन करने वाला दल उपस्थित हो गया था। वह पौराणिक युग के पुरुषों के चरित्र को अपनी प्राचीन महत्ता का प्रदर्शन मात्र समझने लगा। दैवी शक्ति से तथा महत्व से हट कर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना, संकीर्ण संस्कारों के

प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युग वाणी में प्रगट होने का अवसर मिला। इस का सूत्रपात उसी दिन हुआ जब गवर्नमेण्ट से प्रेरित राजा शिवप्रसाद ने सरकारी ढंग की भाषा का समर्थन किया और भारतेन्दुजी को उन का विरोध करना पड़ा। उन्हीं दिनों हिन्दी और बंगला के दो महाकवियों में परिचय भी हुआ। श्री हरिश्चन्द्र और श्री हेमचन्द्र ने हिन्दी और बंगला में आदान-प्रदान किया। हेमचन्द्र ने बहुत सी हिन्दी की प्राचीन कविताओं का अनुवाद किया और हरिश्चन्द्र ने "विद्या सुन्दर" आदि का अनुवाद किया।

जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटा कर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। फलतः आरम्भिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओं के स्थान पर—जिन की घटनाएं राजकुमारों से ही सम्बद्ध होती थीं—मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण आरम्भ होता है। भारत के लिए उस समय दोनों ही वास्तविक थे—यहाँ के दरिद्र जनसाधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किन्तु जनसाधारण और उन की लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेकदम्भपूर्ण आडम्बरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं

डाली। तब राजसत्ता कृत्रिम और धार्मिक महत्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान् दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।

आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है—जिस में राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उस में रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ में किया जाता है, परन्तु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित् यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं। और वास्तविक चित्रों में पतन का उल्लेख आवश्यक है। और फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निन्दनीयता भी—जो सामाजिक रूढ़ियों द्वारा निर्धारित रहती है—अपनी सत्ता बना कर दूसरे रूप में अवतरित होती हैं। वास्तव में कर्म, जिन के सम्बन्ध में देश, काल और पात्र के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वे सम्पूर्ण रूप से न तो भले हैं और न बुरे हैं, कभी समाज के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, कभी त्याज्य होते हैं। दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जाने वाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण

की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और इस विषमता को ढूँढ़ने पर वेदना ही प्रमुख हो कर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में वह सन्दिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है, स्त्री नारी है और पुरुष नर है; इन का परस्पर केवल यही सम्बन्ध है।

वेदना से प्रेरित होकर जन साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुंचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धांत बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्मनिरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति वैचित्र्य से प्रभावित हो कर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को

कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है। यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न हो कर पीड़ित होने लगती है तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इस को दिखाते हुए भी उस में आदर्शवाद का सामञ्जस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है। उस में विश्वमंगल की भावना ओतप्रोत रहती है।

संस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखलाई पड़ता है वह महत्व और लघुत्व दोनों सीमान्तों के बीच की वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणीकरण का संकेत कर सके तो वास्तविकता का

स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिन्दी में इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य साहित्य ही बना।

❀ ❀ ❀

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से--जिस में बाह्य वर्णन की प्रधानता थी--इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उन के लिए नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उस में एक तड़प उत्पन्न कर के सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। भवभूति के शब्दों के अनुसार--

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोपि हेतुः
न खलु वहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।

बाह्य उपाधि से हट कर आन्तरहेतु की ओर कवि कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की

योजना हुई, हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे। किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्य्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इस के प्रमाण हैं। इसी अर्थ चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी पर कहा है—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।"

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। इस के लिए प्राचीनों ने कहा है—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में कहा है—

प्रतिभा प्रथमोद्भेद समये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। वैचित्र्य का सृजन करना

विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य भंगी भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। (शब्दस्यहि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—लोचन २०८) कुन्तक के मत में ऐसी भणिति शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्ध व्यतिरेकी होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह उज्ज्वलाछायातिशय रमणीयता (१३३) वक्रता की उद्‌भासिनी है।

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
प्रकाराजनयन्त्येतां चित्रच्छाया मनोहराम् ।।३४।।
२ उन्मेष व० जी०।

कभी-कभी स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—वे आँखें कुछ कहती हैं।

अथवा—

निद्रानिमीलितदृशो मद मन्थराया,
नाव्यर्थवन्तिनचर्यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपिध्वनन्ति॥

किन्तु ध्वनिकार ने इसका पयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया।

यस्त्वलक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यो ध्वनिवर्ण पदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च सप्रबन्धेपि दीप्यते॥

यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। आनन्दवर्धन के शब्दों में—

मुख्या महाकवि गिरामलंकृति भृतामपि
प्रतीयमानच्छायैषाभूषालज्जेव योषिता ॥३-३८॥

कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलङ्कार जो पहन लिया जाता है वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी सुलभ श्री की बहिन ही है, घूँघट वाली लज्जा नहीं। संस्कृत साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनवगुप्त ने लोचन में एक स्थान पर लिखा है—परां दुर्लभां छायां आत्मरूपतां यान्ति।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष काल में अधिक महत्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किंतु आन्तर अर्थ वैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्हों ने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था।

निरहंकार मृगाङ्क, पृथ्वी गतयौवना, संवेदनमिवाम्बरं, मेघ के लिए जनपद वधू लोचनैः पीयमानः या कामदेव के कुसुम शर के लिए विश्वसनीयमायुधं ये सब प्रयोग बाह्य सादृश्य से अधिक आन्तर सादृश्य को प्रकट करने वाले हैं। और भी—

आर्द्र ज्वलति ज्योतिरहमस्मि, मधुनक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवं

रजः इत्यादि श्रुतियों में इस प्रकार की अभिव्यंजनायें बहुत मिलती हैं। प्राचीनों ने भी प्रकृति की चिरनिःशब्दता का अनुभव किया था—

शुचि शीतल चन्द्रिकाप्लुता श्चिर निःशब्द मनोहरा दिशः
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्य प्यथ हेतुतां ययुः ॥

इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलङ्कार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं। कदाचित् ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलङ्कारों का निर्माण होता था, उन्हीं के लिए आनन्दवर्धन ने कहा है—

तेऽलङ्काराः परांछायां यान्तिध्वन्यंगतां गताः। (२—२६)

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए तो कुछ लोग चौंके सही, परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्म-स्पर्श काव्य जगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। बाह्य से हट कर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

जब वहति विकल कायोन मुञ्चति चेतनाम् की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिरबन्धन में बाँध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तर भा को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सधारों के साथ इस पद

की ओर अग्रसर होती है, उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिन्दी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया है। कुन्तक के शब्दों में अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है कि जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्णतादात्म्य नहीं कर पाया हो वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क ही से मेल हो गया हो, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छायामात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है। इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्यधारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्ष करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

[४]

उपन्यास क्या है ?

(आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी)

आज कल हिन्दी साहित्य में उपन्यास-नामधारिणी पुस्तकों की भरमार हो रही है। इन पुस्तकों में से प्रायः ९५ फ़ी सदी पुस्तकें उपन्यास कदापि नहीं; और जो कुछ हों। उपन्यासों और क़िस्से-कहानी की पुस्तकों की चाह होने के कारण अधिकारी और अनधिकारी सभी लेखक "अव्यापारेषु व्यापारः" करने में व्यस्त हैं। जो यह भी नहीं जानता कि मानस-शास्त्र भी कोई शास्त्र है, जो यह भी नहीं जानता कि चरित्र-चित्रण किस चिड़िया का नाम है, जिसे इस बात की रत्ती भर भी परवा नहीं कि उसकी पुस्तक के पाठ से पाठक का चरित्र बिगड़ेगा, वह भी उपन्यास लिख लिख कर नाम नहीं तो दाम उपार्जन करने की फ़िक्र में है। इस तरह की चेष्टायें कभी-कभी अत्यन्त उपहास्य मार्गों का अनुसरण करती हैं। उदाहरण के लिए दवाओं, पुस्तकों तथा अन्य चीज़ों के दुकानदार कोई अंड-बंड कहानी गढ़ लेते हैं। फिर बीच-बीच अपनी चीज़ों का विज्ञापन देकर उस पुस्तक का कोई भड़कील

औपन्यासिक नाम रखते हैं। तब उसे प्रकाशित करते और बेचते हैं। अभी एक ही हफ्ता हुआ होगा, हमने एक ऐसा उपन्यास देखा जो किसी स्कूल या कालेज के किसी छात्र की रचना है। रचयिता ने भूमिका में यह बात बड़े गर्व से लिखी है कि मैंने दो ढाई सौ सफे का यह उपन्यास दस पन्द्रह रोज में ही लिख डाला है। पुस्तकें लिखने का उत्साह बुरी बात नहीं; पर अनधिकार चेष्टा की कुछ सीमा भी तो होनी चाहिए। यह न होना चाहिए कि बिच्छू का तो मन्त्र न जाने और साँप के बिल में हाथ डाले। कुरुचिवर्धक पुस्तकें लिखने से लेखक को अर्थ-लाभ हो सकता है, पर उससे समाज को हानि पहुँचती है। अतएव इस तरह के लेखक समाज की दृष्टि में दंडनीय हैं।

साहित्य का एक अंग उपन्यास भी है। यह अंग बड़े महत्व का है। यह संस्कृत-भाषा के प्राचीन ग्रन्थ-साहित्य में भी पाया जाता है। पर अंकुर-रूप ही में इसके दर्शन होते हैं। हां जैन लेखकों ने इस तरह के कुछ अच्छे-अच्छे ग्रंथ जरूर लिखे हैं; परन्तु उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है। सम्भव है, ऐसी पुस्तकें बहुत रही हों, पर वे सब अब उपलब्ध नहीं। इन पुस्तकों में कथा-कहानियों के बहाने धर्म्मतत्व और सदाचार की शिक्षा दी गई है। इनको छोड़कर संस्कृत-भाषा में लिखी गई कथासरित्सागर कादम्बरी, वासवदत्ता और दशकुमार-चरित आदि पुस्तकों से कोई विशेष शिक्षा नहीं मिल सकती; मानस-शास्त्र के आधार पर किये गये चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता भी सर्वत्र देखने को

नहीं मिलती। हाँ किसी हद तक इनसे मनोरंजन ज़रूर होता है। बस।

प्रकृत उपन्यास-साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशों ही के लेखकों को है। उन्होंने साहित्य के इस अङ्ग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है—उन्होंने इसे कला का रूप दिया है। उन्होंने इस अंग के कलानिरूपण-सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा है। उनके इस निरूपण का अनुशीलन करके हम जान सकते हैं कि उपन्यास किसे कहते हैं; आख्यायिका किसे कहते हैं; उनमें क्या गुण होने चाहिए; उनकी रचना में किन बातों की गणना दोष में है, इत्यादि।

यह बात नहीं कि जिन लोगों ने पश्चिमी पंडितों के इस प्रकार के निरूपणात्मक लेख या ग्रन्थ नहीं पढ़े वे कदापि कोई अच्छा उपन्यास लिख ही नहीं सकते। जिनको मनुष्य स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनोमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ़ है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है वे पश्चिमी पंडितों के तत्त्वनिरूपण का ज्ञान प्राप्त किए बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।

साहित्य के इस अंग में वंग-भाषा के कई सुलेखक कृतकार्य हुए हैं। विद्यमान लेखकों में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस समय सब से आगे हैं। उनके गोरा नामक उपन्यास में, सुनते हैं, अच्छे उपन्यास के अनेक गुण पाए जाते हैं। तथापि बँगला

भाषा के उपन्यास-लेखकों में भी अच्छे लेखक बहुत थोड़े हैं; अधिकता बुरे उपन्यास लिखने वालों ही की है। इन पिछले लेखकों की विषाक्त रचना से सामाजिक बन्धनों की ग्रंथि शिथिल हो जाने का डर है। खेद है, हिंदी में इस तरह के चरित्र-नाशक उपन्यासों ही के अनुवाद अधिकता से हो रहे हैं। बँगला के अच्छे उपन्यासों के अनुवादों के दर्शन बहुत ही कम होते हैं। इस दृश्य में संतोष की बात इतनी ही है कि समझदार लेखक और प्रकाशक अच्छे और बुरे उपन्यासों का अंतर अब कुछ-कुछ समझने लगे हैं।

उस दिन इलाहाबाद के "लीडर" नामक अँगरेज़ी भाषा के दैनिक पत्र का एक अङ्क हमने खोला तो उसका एक सफ़े का सफ़ा एक समालोचना से भरा दिखाई दिया। उस पर नज़र डाली तो प्राचीन समय के कुछ नाम देख पड़े। आरम्भ का कुछ अंश पढ़ने पर मालूम हुआ कि यह तो हिन्दी के दो उपन्यासों की आलोचना है। तब हमने उसे साद्यन्त पढ़ा। समालोचना थी करुणा और शशांक नामक दोनों उपन्यासों की। जिन मौर्य्य नरेशों को हुये हज़ारों वर्ष हो चुके उनके समय के सामाजिक और राजनैतिक दृश्य इन उपन्यासों में दिखाये गये हैं। यह बात हमने इस समालोचना ही से जानी; क्योंकि इन पुस्तकों को हमने स्वयं नहीं देखा। मूल रचना एक बंगाली पुरातत्त्वज्ञ की है। अतएव उपन्यासों के गुण-दोषों के उत्तरदाता वही हैं। समालोचना में पुस्तकों की खूब स्तुति-प्रशंसा थी। यदि इन पुस्तकों में उस

जमाने की रहन, सहन, आचार-विचार, वस्त्राच्छादन, रीति-रवाज, राजनैतिक चालों आदि ही के दृश्य हों तो भी पुस्तकें अच्छी ही कही जायँगी। और यदि समाज के कल्याण की दृष्टि से उनसे कुछ शिक्षा भी मिलती हो तो फिर कहना ही क्या है। हाँ, यदि उनमें उस जमाने के सामाजिक दोषों के भी उल्लेख हों—और वे दोष समाज के लिए हानिकारी हों—तो बात जरा विचारणीय हो जायगी; क्यों कि कुछ पण्डितों की सम्मति में ऐसे दृश्य दिखाना वांछनीय नहीं। हाँ जो लोग समाज का सचा ही चित्र, चाहे वह भला हो चाहे बुरा, दिखाना उपन्यास का कर्तव्य समझते हैं वे अवश्य इस सम्बन्ध में मीनमेख न करेंगे। अस्तुः यह तो अवांतर बात हुई। "लीडर" में प्रकाशित समालोचना का उल्लेख हमने और ही मतलब से किया है। वह यह कि अब अंग्रेजी भाषा के सैंकड़ों उपन्यास चाट जाने वाले लोग भी हिंदी में लिखे गये उपन्यास पढ़ने लगे हैं और अखबारों में लम्बे लंबे चार-चार पाँच-पाँच कालमों में उनकी आलोचना भी करने लगे हैं। अच्छे समझ कर ही अँगरेजी-दाँ समालोचक ने पूर्वोक्त पुस्तकों की समालोचना लिखने और छपाने का श्रम उठाया है। फिर चाहे उसने स्वतः प्रवृत्त होकर यह काम किया हो, चाहे किसी के इशारे या प्रेरणा से किया हो।

ऊपर जिन दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ वे अनुवाद मात्र हैं। हिन्दी के सौभाग्य से इन प्रांतों में एक ऐसे भी उपन्यास-लेखक प्रकाश में आ रहे हैं जिनके उपन्यास, सुनते हैं, उन्हीं की उपज

हैं। "सुनते हैं", इसलिये, क्यों कि हमको उनकी उपज का स्वत कुछ भी ज्ञान नहीं। उनके जिन दो उपन्यासों की आलोचनाओं और विज्ञापनों की धूम, कुछ समय से है, वे हमारे देखने में नहीं आये। उनका एक उपन्यास प्रकाशित हुए कुछ समय हुआ। दूसरा अभी हाल ही में निकला है। उसका नाम सेवाश्रम, या कुछ इसी तरह का है। इन उपन्यासों की जहाँ और अनेक लेखकों ने स्तुति और प्रशंसा की है तहाँ एक आध ने पिछले उपन्यास में बहुत से दोष भी ढूँढ़ निकाले हैं और व्याख्या सहित उन्हें दिखाया भी है। दोषोद्भावना करने में दोषदर्शक ने उपन्यास-लेखक के कानूनी अज्ञान, मनःशास्त्र-विषयक अज्ञान, सामाजिक नियम-सम्बन्धी अज्ञान आदि दिखाने का प्रयत्न किया है। यह अज्ञान परम्परा उपन्यास-लेखक के किसी पक्षपाती को मान्य नहीं हुई; और संभव है, खुद लेखक को भी मान्य न हो। इसी से कृताक्षेपों का खंडनात्मक उत्तर भी कहीं हमने पढ़ा है। स्मरण तो यही कहता है।

अच्छा तो उपन्यासों के गुण-दोषों की परख क्या है ? इसके उत्तर में हम अपनी तरफ से अधिक नहीं लिख सकते और लिखना भी नहीं चाहते, क्योंकि हम इस विषय के ज्ञाता नहीं अतएव हम उपन्यास-रहस्य के कुछ ज्ञाताओं के कथन के आधार पर ही कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

मनुष्य जो काम करता है, मन की प्रेरणा से करता है। और मन से सम्बन्ध रखने वाला एक शास्त्र जुदा है। वह मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान कहाता है। उपन्यासों में मनुष्यों ही के

चरित्रों और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना जरूरी है। बिना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती। किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा से कैसा काम होता है अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य्य की उत्पत्ति होती है, इसका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और उसके कार्य-कारण-सम्बन्ध का ज्ञान हो। अतएव उपन्यास-लेखक के लिए मनोविज्ञान के कम से कम स्थूल नियमों का जानना अनिवार्य होना चाहिए। उपन्यास लिखने वाला कल्पना से भी काम ले सकता है, और बिना ऐसा किये उसका काम चल ही नहीं सकता। पर उसकी भित्ति सत्य के आधार पर होनी चाहिए। उसके घटनानिवेश और चरित्र-चित्रण में अतिमानुषता और अतिरंजना न होनी चाहिए। इस दोष से तभी बचाव हो सकता है जब लेखक को मनःशास्त्र के नियमों से अभिज्ञता हो। अन्यथा भाव-विश्लेषण ठीक-ठीक नहीं हो सकता।

उपन्यास-रहस्य के ज्ञाताओं के दो दल हैं। ऊपर जो कुछ लिखा गया वह पहले दल की सम्मति है। इस सम्मति का सारांश यह है कि मनोविज्ञान या मानव-शास्त्र के नियम जहाँ-जहाँ ले जायँ उपन्यासकार को वहीं-वहीं जाना चाहिए और तदनुसार ही घटनावलियों और चरित्रों की सृष्टि करनी चाहिए। अनिष्ट-प्राप्ति से मनुष्य का मन विचलित हो उठता है और विलाप करने लगता है। यह मानसिक नियम है। पहले दल के कायल लेखक

इसी का अनुगमन करके घटना-निर्माण करेंगे। यदि किसी पक्के वेदांती या विरागी को अनिष्ट लाभ से कुछ भी दुःख न हो तो वे उसे अपवाद या नियम-विरुद्ध बात समझेंगे।

दूसरे दल के अनुयायियों का कहना है कि मनोविज्ञान के नियमों को आधारभूत तो जरूर मानना चाहिए, पर सदा उनसे अपनी विचार-परम्परा को जकड़ लेना ठीक नहीं। सभी घटनाओं और सभी भावों के सम्बन्ध में मनःशास्त्र से संश्रय रखने की चेष्टा से कहानी रोचक और स्वाभाविक नहीं हो सकती। क्योंकि मनुष्य के मन पर मनोविज्ञान के नियमों की अखण्ड सत्ता नहीं देखी जाती। मनःशास्त्र में जिस कारण से जैसे कार्य की उत्पत्ति होना वर्णित है उस कारण से कभी-कभी वैसा कार्य नहीं उत्पन्न होता। अतएव जैसी घटनाएँ लोक में हुआ करती हैं और मनुष्य समाज में जैसे कार्य-कारण-भाव देखने में प्रायः आया करते हैं, तदनुकूल ही उपन्यास-रचना होनी चाहिए। मनुष्य के मानसिक भाव उसे जिस अवस्था को ले जाय उसी का वर्णन करना चाहिये; इस बात की परवा न करनी चाहिये कि मनोवि[illegible] के अनुसार तो ऐसी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती; अ[illegible] इसका वर्णन त्याज्य है। घटनावली के दर्शन और भाव[illegible] चित्रण की जड़ में मनोविज्ञान रहे जरूर, पर वह छिपा हुआ रहे। शरीर के भीतर जैसे अस्थिपंजर छिपा रह कर शरीर-संगठन में सहायता देता है वैसे ही मनोविज्ञान के नियमों को भी कथा-भाग के भीतर अलक्षित रखना चाहिए। जो इस खूबी को जानते हैं और जो अपनी रचना में नियमों के पचड़े को

गुप्त रख कर चरित्र-चित्रण करते हैं उन्हीं के उपन्यासों का अधिक आदर होता है।

मानसिक नियमों का पालन दृढ़ता-पूर्वक करके कोई किसी अन्य पुरुष या स्त्री के भावों का ठीक-ठीक विश्लेषण कर भी नहीं सकता। बात यह है कि सबके मन एक से नहीं होते। सबकी ज्ञानेन्द्रियों की ग्राहिका शक्ति भी एक सी नहीं होती। किसी अवस्था विशेष में पड़ने पर राम जिस प्रकार का व्यवहार करता है, श्याम उस प्रकार नहीं करता, यह बात हम प्रति दिन प्रत्यक्ष देखते हैं। इस दशा में पद-पद पर मनोविज्ञान की दुहाई देना और राम या श्याम के कार्यों का वैज्ञानिक कारण ढूँढ़ना भ्रम के गर्त में गिरने और घटना-वैचित्र्य में नीरसता लाने का द्वार खोल देना है। हर मनुष्य के संस्कार जुदा-जुदा होते हैं। उनके अनुसार ही उसके कार्य-कारण हुआ करते हैं। वे किसी नियमावली के पाबन्द नहीं। आपके पास यदि कोई धूर्त आवे और चेष्टा तथा वाणी से अपनी निर्धनता का झूठा भाव प्रकट करके आप से ५) दान ले जाय तो, बताइये, आप धोखा खा जायँगे या नहीं सो, संसार में मनोभाव के यथार्थ ज्ञापक कार्य्य सदा होते भी तो नहीं।

इसके सिवा एक बात और भी है। ये जितने अच्छे-अच्छे उपन्यास आज कल विद्यमान हैं उनके कुंद, इंदु और मिल्लिका, मदयंतिका आदि पात्रों के हृदयों में उपन्यास-लेखकों ही को आप बैठा समझिए। इन पात्रों के भाव-विश्लेषण के जो चित्र आप देखते हैं वे उनके निज के मन के प्रतिबिम्ब कदापि नहीं। वे तो

उपन्यास-लेखकों ही के मन के प्रतिबिम्ब हैं। मनोभावों और संस्कारों के अनेकत्व में लेखक उनका यथार्थ और संपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। वह करता है क्या कि अपने ही मन की माप से औरों के मन की माप-तोल करता है। वह देखता है कि अमुक अवस्था या अमुक अवसर यदि आ जाय तो मैं इस प्रकार का व्यवहार करूँगा। बस वह समझता है कि सारी दुनिया उसीमें अंतर्भुक्त है; अवस्था-विशेष में जो वह करेगा या कहेगा वही सब लोग करेंगे या कहेंगे। पर इस प्रकार की धारणा कोरी भ्रांति है।

अच्छा तो मनोविज्ञान के शुष्क नियमों ही के आधार पर किसी का चरित्र-चित्रण करना जैसे निर्भ्रांत नहीं हो सकता वैसे ही अपने मन को माप-दण्ड समझ कर उसी से औरों के मन की माप करना भी भ्रांति-रहित नहीं हो सकता। इस "उभयतोः पाशा-रज्जूः" की दशा में क्या करना चाहिए। क्या उपन्यास लिखना बन्द ही कर देना चाहिए ? नहीं, बन्द कदापि न कर देना चाहिए। उपन्यास तो साहित्य की एक बड़ी महत्वपूर्ण शाखा है।

घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण करने में मानस-शास्त्र का आधार जरूर लेना चाहिए। पर उतना ही जितने से मानवी मन की स्वाभाविक गतियों को गर्त में गिराने से बचाव हो सके। मनोभावों के कुछ स्थूल नियम हैं—भय उपस्थित देख भीत होना, इष्ट-नाश से दुःखित होना आदि। इन नियमों का अतिक्रमण न करना चाहिए। कोई ऐसी बात न कहना और किसी ऐसी घटना निर्माण न करना चाहिए जिससे मनुष्य मनुष्य ही न रहे; वह पशु, देव या दानव आदि हो जाय। बस।

फिर दूसरे के मनोगत भावों की विवृति करते समय अपने ही मन को उसके मन के स्थान पर न बिठा देना चाहिए। अमुक अवसर आने पर मैं यह कहता, मैं यह करता, मैं मार बैठता, मैं उत्तेजित हो जाता—इस प्रकार की भावनाओं की प्रेरणा से बहुत करके सत्य का अपलाप हो जाता है। अतएव जिसके मन के मानसिक भावों का विकास करना है उसके संस्कारों की, उसकी तत्कालीन अवस्था की, उसके आस पास की व्यवस्था की—सारांश यह कि उसकी संपूर्ण परिस्थितियों की—आलोचना करनी चाहिए। देखना यह चाहिए कि ऐसे समय और ऐसी परिस्थितियों में ऐसे मनुष्य के मनोगत भाव किस प्रकार के होंगे। तब तदनुकूल ही उनका विकास करना चाहिए। बात यह है कि दुनियां में दूसरे के मन के भाव जानने का और कोई उपाय ही नहीं। परिस्थिति और बहिर्दर्शन ही के द्वारा, अनुमान की सहायता से दूसरे के मन का भाव जाना जा सकता है। मन का भाव-प्रवाह बाहरी लक्षणों या चिन्हों से जाना जा सकता है, यह बात मानस-शास्त्री भी स्वीकार करते हैं। हर्ष, शोक, विराग, अनुराग, क्रोध, भय आदि भावों या विकारों का मानसिक उदय होने पर शरीर और मुख पर कुछ ऐसे चिन्ह प्रगट हो जाते हैं जिनसे उन-उन विकारों का पता लग जाता है। अतएव दूसरे के मनोगत-भावों का चित्रण करने में परिस्थिति के साथ-साथ इन चिन्हों के उदयास्त का भी खूब विचार करके लेखिनी-संचालन करना चाहिए। शरीर, भाषा, चित्र, कला, कारीगरी आदि पर भावों की अभि-

व्यक्ति हुए बिना नहीं रहती। इन भावों का विकास कल्पना द्वारा करना चाहिए। परन्तु कल्पना को असंयत न होने देना चाहिए। उसकी गति अबाध हो जाने से वह कुपथ में चली जा सकती है। कभी-कभी शरीर पर आंतरिक भावों के कृत्रिम चिन्ह भी उदित हो जाते हैं। उस समय देखने वाले की इंद्रियों को धोखा होता है अतएव कृत्रिम लक्षणों और इंद्रिय-प्रवंचना से भी बचना चाहिए। सामाजिक नियमों का, कानून का, धर्म का, देश-काल और पात्र का भी ख्याल रखना चाहिए। उनके प्रतिकूल लिख मारना उपन्यास-लेखक की अज्ञता या अल्पज्ञता का बोधक होता है। ऊपर, एक लेखक के दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ है। उनमें से एक की आलोचना में किसी समालोचक ने कोई क़ानूनी भूल बताई। लेखक ने या उनके किसी पक्षसमर्थक ने युक्ति-प्रपंच द्वारा उसके खंडन की चेष्टा कर डाली। पर इस तरह की चेष्टाओं से उपन्यास-लेखक की भूल पर धूल नहीं डाली जा सकती। जब तक पुस्तक विद्यमान है तब तक वह भी ज्यों की त्यों विद्यमान रहेगी। जिस जुर्म के लिये आज कल के कानून में जो सज़ा निर्दिष्ट है उसके सिवा और कोई सज़ा—चाहे वह उससे थोड़ी हो या बहुत—दिलानेवाला उपन्यास स्वयं ही प्रतिकूल आलोचना-रूप सज़ा का पात्र समझा जायगा।

सो इतनी विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए, अच्छा उपन्यास लिख डालना सब का काम नहीं। उपन्यासकार को कल्पना के बल पर नई, पर सर्वथा स्वाभाविक, सृष्टि की रचना करनी पड़ती है। बड़े परिताप की बात है कि इस इतने कठिन

काम को आजकल कोड़ियों ज़ौद और कोड़ियों बकर धड़ाके के साथ कर रहे हैं। उनकी सृष्टि में कहीं तो मनुष्य देव या दानव बना दिया जाता है और कहीं कीट-पतङ्ग से भी तुच्छ कर दिया जाता है। न उनकी भाषा का कुछ ठौर-ठिकाना, न उनके पात्रों की भाव-विवृति में संयमशीलता और स्वाभाविकता का कहीं पता, और न उनकी कहानी में चावल भर भी सदुपदेश देने का सामर्थ्य। अनेक उपन्यासों का उद्देश्य अच्छा होने पर भी, बीच-बीच, घटना विस्तार और चरित्र-चित्रण से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी-ऐसी भूलें हो जाती हैं जिनके कारण विवेकशील पाठक के हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती।

उपन्यास-रचना के सम्बन्ध में, हिंदी में तो अभी कूड़े-कचरे ही का ज़माना है। और, आरंभ में प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में यह बात होती है। अंगरेजी भाषा में तो अब तक चरित्र-नाशक उपन्यासों की रचना होती जाती है। पर उपन्यास कोई ऐसी वैसी चीज़ नहीं। वह समय गया जब उपन्यास दो घण्टे दिल बहलाव-मात्र का साधन समझा जाता था। निकम्मे बैठे हुए हैं, लाओ कुछ पढ़ें। वक्त नहीं कटता, लाओ "चपला" या "चञ्चल" ही को देख जायँ। उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्यायें, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म-कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाये जा सकते हैं। उपन्यासों द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती। काव्यों और नाटकों की

पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुंच सकते हैं। स्त्रियों और बच्चों के भी वे शिक्षक बन सकते हैं। मिहनत-मजदूरी करने वालों को भी वे घण्टे भर सदुपदेश दे सकते हैं। लोगों को कहानी पढ़ने का जितना चाव होता है उतना और किसी विषय की पुस्तकें पढ़ने का नहीं होता। अतएव अच्छे उपन्यासों का लिखा जाना समाज के लिए विशेष कल्याणकारक है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि सच्चा सामाजिक चित्र दिखाने में उपन्यासकार को सङ्कोच न करना चाहिए। इस पर प्रार्थना है कि उपन्यास कोई इतिहास तो है नहीं और न वह कोई वैज्ञानिक रचना ही है जो उसके सभी अंशों या अंगों पर विचार करने की जरूरत हो। फिर उसमें चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों, दुराचारियों आदि के चित्र दिखाने की क्या जरूरत ? प्रसंग आ ही जाय तो इस तरह के चित्रों की निवृत्ति ऐसे शब्दों से करनी चाहिए जिससे उनका असर पढ़ने वालों पर बुरा न पड़े। दोष समझ कर उनकी निवृत्ति करनी चाहिए। जो उपन्यास-लेखक अश्लील दृश्य दिखाकर पाठकों के पाशविक विकारों की उत्तेजना करता है, अथवा ऐसे चरित्रों के चित्र खींचता है जिनसे दुराचार की वृद्धि हो सकती है, वह समाज का शत्रु है। यदि वह इस तरह के उपन्यास केवल इस इरादे से लिखता और प्रकाशित करता है कि उनकी अधिक बिक्री से वह मालदार हो जाय तो वह गवर्नमेंट के न सही, समाज के द्वारा तो अवश्य ही बहुत बड़े दंड का पात्र है।

उपन्यास-रचना अब तो पश्चिमी देशों में कला की सीमा को

पहुँच गई है। जो उपन्यासकार ऐसे उपन्यास की सृष्टि करता है जिसके पात्रों के चरित्र चिरकाल तक सदुपयोग और समुदार शिक्षा देने की योग्यता रखते हैं वही श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक है। वह चाहे तो राजा से लेकर रङ्क तक को और मजदूर से लेकर करोड़पति तक को कुछ का कुछ बना दे। वह चाहे तो बड़े-बड़े दुराचारों और कुसंस्कारों की जड़ें हिला दे। वह चाहे तो देश में अद्भुत जाग्रति उत्पन्न करके दुःशासन की भुजाओं को बेकार कर दे। जिस उपन्यासकार की रचना से समाज के किसी अल्प ही समुदाय को कुछ लाभ पहुंच सकता है, सो भी कुछ ही समय तक, वह मध्यम श्रेणी का लेखक है। निकृष्ट वह है जो अपनी कुरुचिवर्धक कृतियों से सामाजिक बन्धनों को शिथिल और दुर्वासनाओं को और भी उच्छृङ्खल कर देता है। दुकानदारी ही की कुत्सित कामना से जो लोग, पाठकों को पशुवत् समझ कर, घास-पात सदृश अपनी बे सिर पैर की कहानियाँ उनके सामने फेंकते हैं—

ते के न जानी महे,

ऑक्टोबर, १९२२

—:o:—

[५]

समालोचना

(डा० रामकुमार वर्मा)

संसार में न जाने कितनी विभूतियाँ हैं, उनमें कितनी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ हैं, जो मनुष्य के हृदय में शान्ति और आनन्द का उद्रेक करती हैं। पर उन सब का अस्तित्व प्रकाश है। यदि प्रकाश न हो—प्रातः सूर्य की किरणें उन पर न पड़ें—उन्हें आलोकित न करें, तो वे सारी विभूतियाँ अन्धकार के परदे में छिपी रहें, आँखों को उनका ज्ञान ही न हो, उनमें सुन्दरता के गुण होते हुए भी कोई विशेषता न आये। सूर्य के प्रकाश से ही उनमें विलक्षणता, सौन्दर्य और आनन्द उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ आती हैं। उसी प्रकार साहित्य की अनन्त बिखरी हुई विभूतियों की सुन्दरता बिना समालोचना के नज़र के सामने नहीं आती। बिना समालोचना के उसके गुणों अथवा दोषों का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि बिना समालोचना के साहित्य का महत्व ही नहीं है। सूर्य का प्रकाश न रहने पर भी विश्व की वस्तुओं का महत्व कम नहीं होता। किन्तु एक बात है। सूर्य का प्रकाश वस्तुओं में सौन्दर्य

की स्थापना करता है। उन्हें अन्धकार के परदे से बाहर लाता है, उनके विविध स्वरूपों को स्पष्ट करता है। उसी प्रकार समालोचना साहित्य में सौन्दर्य का अस्तित्व खोज निकालती है; उसमें गूढ़तम भावनाओं अथवा विचारों का पता लगा लेती है। कौन-सा मणि कहाँ है, किस मोती का क्या स्थान है, साहित्य-सागर में समालोचना यही ढूँढ निकालती है। बिना समालोचना के साहित्य में जान नहीं आती, साहित्य एक प्रकार से प्राण-शून्य-सा रहता है। सत्रहवीं शताब्दी में भी तुलसी के मानस को लोग जानते थे--प्रेम से सुनते थे। सूरदास की पदावलियां वायु को प्रतिध्वनित करती थीं--कानों में पीयूष-वर्षण करती थीं; पर उनका महत्व क्या था? अधिकतर धार्मिक ही न? लोग उन्हें बड़े प्रेम से सुनते—माधुर्य लहरी में डूब जाते—भाव-मग्न हो, कल्पना की आँखों से, राम और कृष्ण की छवि देखते; पर इसके सिवा लोगों में उनके धार्मिक महत्व के अतिरिक्त और क्या श्रद्धा थी? यही न, कि तुलसी सब रसों का निरूपण कर सकते हैं, सूरदास बाललीला और प्रेम की व्यंजना अन्धी आंखों से भी बड़े मार्मिक ढङ्ग से करते हैं--बस इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इसका कारण था, लोग समालोचना के महत्व से परिचित नहीं थे। वे उनमें अपने हृदय की वृत्ति पाते थे, मस्तिष्क की नहीं। पर जैसे-जैसे लोगों ने उन महाकवियों की रचना पर विचार करना प्रारम्भ किया, जैसे-जैसे रसिक लोगों की दृष्टि उनके 'मानस' और 'सागर' की ओर बढ़ी, वैसे-वैसे उनके हाथों नये-नये रत्न आने लगे और 'मानस' और

'सागर' का महत्व दिनों-दिन बढ़ने लगा। आज हम देखते हैं कि उनका काव्य-महत्व धर्म-महत्व से कहीं अधिक है; क्योंकि हमने उनकी रचनाओं को, काव्य के ढंग से, समालोचना की कसौटी पर कसा है—धर्म की कसौटी पर नहीं। उनमें हमने साहित्य-शास्त्र की रीति से न जाने क्या-क्या पा लिया है! यही उनका असाधारण काव्यत्व है जो अभी तक लोगों की आंखों से छिपा था। समालोचना ने उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाल दिया है। उनमें सौन्दर्य की अत्यधिक स्थापना हो गई है।

समालोचना साहित्य का कितना बड़ा आवश्यक अङ्ग है, इस पर लोगों ने बहुत कम विचार किया है। यही कारण है कि साहित्य का यह भाग बहुत पिछड़ा हुआ है। हिंदी में समालोचना के चिन्ह किशोरदास जी से मिलते हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने कई टीकाएँ लिखीं जो व्रजभाषा में ही विभूषित थीं। पर टीका और समालोचना में अन्तर है। एक का कार्य कठिन अर्थों का सरल भाषा में अनुवाद-सा करना है और दूसरे का गुण-दोषों का स्पष्टीकरण। पर यह माननीय है कि टीका ही समालोचना की प्रथम स्थिति है—यद्यपि यह स्थिति बड़ी भद्दी और महत्वहीन है।

इस प्रकार हमारे यहां भी समालोचना का सूत्रपात हुआ और परवर्ती लेखकों द्वारा परिष्कृत होता रहा। पर वास्तविक समालोचना का रूप अब तक निश्चित नहीं हुआ, यह एक खेद की बात है। हिन्दी में समालोचना की स्थिति पर मत प्रकट करने

के पहले समालोचना के आवश्यक अंगों का उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक है।

सबसे पहली बात जो समालोचना में होनी चाहिए, यह है कि आलोच्य विषय से लेखक की पूर्ण जानकारी हो। लेखक इस बात का ज्ञान रखते हों कि जिन वृत्तियों अथवा साहित्य के अंगों पर वे अपना मत दे रहे हैं वे वास्तव में उनके ज्ञान की सीमा के भीतर हैं। बिना जाने हुए विषय पर मत देना समालोचना के सिद्धान्तों के नितान्त प्रतिकूल है। समालोचक आलोच्य विषय पर केवल साधारण ज्ञान रखते हैं और उस पर मत इस प्रकार देते हैं मानों उस विषय के शब्दों को लेकर ही उन्होंने अपनी बाल्यवस्था की गालियाँ सीखी हैं। अभी उस दिन की बात है कि एक चित्रावली समालोचना के लिए मेरे मित्र के पास आई। मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि वे चित्रों की कला के बारे में एक शब्द नहीं जानते। हाँ, अजन्ता के चित्रों का नाम उन्होंने सुन रखा है। बौद्ध समय की चित्र-कला के कुछ शब्द उन्हें याद हैं और राजपूताना-पेंटिंग के दो-एक चित्र-मात्र से जानकारी रखते हैं। शायद उनके पास चित्रों के अलबम भी हैं। पर वे उसी प्रकार सुरक्षित हैं, जिस प्रकार एक शिशु अपनी पहली पोथी की रंगीन चित्रावली बड़े प्रेम से सुरक्षित रखता है, इस डर से कि कहीं मुन्नी उसे फाड़ न डाले। इसके अतिरिक्त वे कुछ नहीं जानते। इसका प्रमाण यह है कि मेरे बहुत बार पूछने पर भी उनसे कुछ संतोषजनक जवाब देते

न बन पड़ा। किन्तु जब वह चित्रावली समालोचनार्थ आई तो उन्होंने इस प्रकार लिखा—

"......चित्रावली भावों के विचार से अवश्य अच्छी कही जा सकती है; पर पात्रों के यथास्थान स्थित होने और वय के विचार से निकृष्ट है। रंगों का विभाजन भी ठीक नहीं हुआ। अजन्ता के चित्रों में जो भावात्मक सौन्दर्य है उसकी उत्कृष्टता पर हमारे चित्रकार का ध्यान ही नहीं गया है। रोमन और बौद्धकालीन चित्रों का नग्न सौन्दर्य अभी हमारे चित्रकारों की आंखों में चुभा नहीं है। मुसलमान स्कूल के चित्रों में बहुत कुछ अंश हम राजपूताना-पेंटिंग का पाते हैं। हमारे यहाँ के चित्रकारों को अब वास्तविक और नग्न सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये......।"

ऐसी समालोचना कोई भी लिख सकता है जो चित्रों में जरा भी दिलचस्पी रखता है। ऐसे स्थल और मोटे भावों का स्पष्टीकरण साधारण से साधारण व्यक्ति भी कर सकता है। ऐसी समालोचना अवांछनीय है। विषय का पूर्ण ज्ञान न होते हुए उसकी समालोचना करना दोष ही नहीं, वरन् उस विषय के प्रति अन्याय करना है। यह तो वही हुआ कि कोई महाशय हैं तो गणित के प्रोफेसर और अपना मत प्रदर्शित करते हैं साहित्य के गूढ़ातिगूढ़ अंगों के विषय में। ज्ञान रखते हैं विज्ञान का, और दम भरते हैं साहित्य समालोचना का। जो विषय जिस व्यक्ति के हृदय में मँज गया हो, जिस व्यक्ति ने

जिस विषय का विशेष अध्ययन किया हो; जिसने उसी विषय की विवेचना में अपनी सारी शक्तियाँ लगा दी हों, उसे उसी विषय का प्रतिपादन करना विधेय है, अन्यथा नहीं। अतएव आलोच्य विषय का प्रकाँड ज्ञान होने पर ही उसकी आलोचना होनी चाहिए और तभी वास्तव में वह सच्ची समालोचना मानी जायगी।

समालोचना में जो दूसरी बात होनी आवश्यक है, वह निष्पक्षता है। समालोचक को उसी प्रकार अपना मत देना चाहिये जिस प्रकार पिता अपने दो बच्चों के युद्ध का निर्णय करता है। समालोचक अपने ज्ञान-तराजू में आलोच्य विषय को ठीक तरह से तोल कर कह दे कि यह इतने सेर इतने छटाँक है। छली बनिये की तरह उसे अपनी तराजू एक ओर को न झुका देनी चाहिए। उसे देखना चाहिए कि बेचारा लेखक भोला बालक बनकर किस प्रकार रचना की ओर हाथ बढ़ाता है। यदि वास्तव में वह अपना उद्देश्य प्राप्त कर लेता है, उसे धन्यवाद देना चाहिए; और यदि नहीं, तो सीधे शब्दों में कह देना चाहिए कि लेखक असफल रहा। मित्र-भाव के कारण असफल लेखक को कभी उच्च स्थान न देना चाहिए और न शत्रु-भाव के कारण एक अच्छे लेखक को नीचा स्थान ही। नीर-क्षीर विवेक ही उसका उद्देश्य रहना चाहिए। भले को भला और बुरे को बुरा कहना उसके लिए आवश्यक है। कभी-कभी वर्तमान लेखकों के विषय में समालोचक दब से जाते हैं। वे अपने हृदय की बात प्रकट नहीं

कर पाते। कहना तो चाहते हैं कि लेखक की कृति में कोई गु
नहीं है, पर इस कारण कि लेखक जीवित है और कुछ ख्या
प्राप्त कर चुका है, वे बेचारे चुप रह जाते हैं और एक शब्द भ
उसके विरुद्ध नहीं कह पाते। अरनाल्ड ने अपने (*Essays i*
Cirticism) ऐसेज इन क्रिटिसिज्म में इसे (Persona
fallacy) 'पर्सनल फैलिसी' कह कर पुकारा है। यह 'वैयक्तिक
दोष' कहा जा सकता है। किसी व्यक्ति विशेष के प्रभुत्व के
कारण बेचारा समालोचक भीगी बिल्ली के समान सिकुड़ कर
बैठता है, फिर उसके मुंह से एक आवाज भी नहीं निकलती।
पं० रमाकान्त त्रिपाठी की हिन्दी-गद्य-मीमांसा में यह उदाहरण
पाया जा सकता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वर्तमान
लेखक की रचना में दोष ढूँढ़ कर गिनाए ही जाने चाहिएँ पर
दूसरी ओर यह भी न होना चाहिए कि रचना में दोष होते हुए
भी उन पर प्रकाश न डाला जाय। उसकी समालोचना गुण-
दोषों के अनुसार ही होनी चाहिए। एक बात और है, जो समा-
लोचकों में पाई जाती है। वह यह है कि वे अपने ज्ञान का व्यर्थ
परिचय देने के लिए बड़े लेखक की रचना में कुछ न कुछ दोष
अवश्य ही खोज निकालना चाहते हैं। जैसे—"पुस्तक वास्तव में
बड़ी सुन्दर है, पर उसमें इस विषय का प्रतिपादन संयत रीति
से ही होना चाहिए था"। ऐसे लोगों का विचार है कि पुस्तक
की उपयोगिता बतलाते हुए उसमें एक-न-एक दोष अवश्य ही
दिखलाना चाहिए। समालोचक समझते हैं कि लोगों को ज्ञात

हो जायगा कि लेखक को इस पुस्तक के विषय का यथेष्ट ज्ञान तो है ही, पर वह उसको और भी परिष्कृत रूप में चाहता है। पर यह भावना अनुचित है। बैठे बिठाये किसी लेखक की सुन्दर कृति में दोष मढ़ना भी तो ठीक नहीं है। केवल अपनी विद्वत्ता का प्रभाव दिखलाने के लिए सूर्य के प्रकाश को मैला कहना भी तो अनुचित है। समालोचकों को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पक्षपात-रहित-समालोचना ही अमर हो सकती है। जहां उसमें पक्षपात की थोड़ी सी भी बू आई कि उसका महत्व न जाने कितने अंशों में कम हो जाता है। ऐसी समालोचना वैमनस्य की गन्ध से दूषित रहती है। वह न कभी अपना उद्देश्य पूरा कर सकती है और न साहित्य में उच्च स्थान ही प्राप्त कर सकती है।

तीसरी बात जो समालोचना में होनी उचित है, वह यह है कि उसमें "जो कहा जाय वह रचना पर कहा जाय, किसी व्यक्ति-विशेष पर नहीं"। समालोच्य विषय रचना है न कि लेखक, यह बात अवश्य है कि लेखक ने ही उस रचना को लिखा है। पर यह ध्यान में रखने योग्य है कि उसकी रचना ही साहित्य का अंग है, वह स्वयं नहीं। अतएव साहित्य सिद्धान्तों के अनुसार रचना की ही समालोचना होनी चाहिये, व्यक्ति की नहीं। जैसे—

"इस पुस्तक के संपादक हैं बाबू पारसनाथसिंह। पारस बाबू कितने साहित्यिक हैं, यह बात हम लोग जानते हैं...।"

"लेखक बहुश्रुत और विस्तृत अनुभव-ज्ञान-सम्पन्न हैं। गत तीस-बत्तीस वर्षों में आप शिक्षा-विभाग के लगभग सभी पदों पर काम कर चुके हैं और गत वर्ष ही······प्रिंसिपल के पद से आप रिटायर हुए हैं। इस कालेज में किसी-न-किसी हैसियत से आपका सम्बन्ध २४, २५ वर्ष रहा······।"

"जायसवाल जी की गवेषणा—ऐतिहासिक खोज—जगत् प्रसिद्ध है। उसके लिए परिचय की आवश्यकता नहीं। प्राचीन भारत के गौरव को विदेशियों के सामने रखने में आपने बड़ी योग्यता प्रदर्शित की है ....।"

ऐसी समालोचना उचित समालोचना नहीं है। लेखकों की प्रशंसा न कर रचना की प्रशंसा होनी चाहिए। समालोचक शायद समझते हैं कि लेखक की प्रशंसा कर देने से वह खुश हो जायगा और भविष्य में उसकी कृपा का पात्र बन जायगा। ऐसी ओछी भावना कभी समालोचक को नहीं रखनी चाहिये। समालोचक का वही कार्य है जो एक सेना संचालक का। जिस प्रकार धुँए के अन्धकार में सेनापति जानता समझता हुआ कहता है कि इस ओर बढ़ो, वहां से पीछे हटो। उसी प्रकार समालोचक को साहित्य-प्रेमियों का संचालन करना चाहिये। उसे यह साफ तौर से बतलाना चाहिए कि यह पुस्तक पढ़ने योग्य है, वह फाड़ डालने योग्य, वह ताक में रख देने योग्य। यदि किसी प्रलोभन से सेना-नायक अपनी सेना को अनुचित दिशा में जाने का आदेश दे तो फल यह होगा कि उसकी सेना

या तो मर जायगी या तितर-बितर होकर भाग जायगी। उसी प्रकार यदि, समालोचक किसी प्रलोभन से अपने पाठकों को बुरी पुस्तकों की ओर दौड़ा दे तो उसे पाठकों को बुरी दिशा में ले जाने का पाप लगेगा और पाठकों की संख्या अव्यवस्थित हो जायगी। एक बात और है। देश के साहित्य का निर्माण यदि सच पूछो तो समालोचकों के ही हाथ में है। यदि वे चाहें तो उसे परिष्कृत कर सकते हैं और यदि उनके मन में समा जाय तो वे उसे पतन की ओर भी ले जा सकते हैं। वे यदि किसी प्रकार बुरी पुस्तक की अच्छी समालोचना कर दें तो पाठकों की दृष्टि उस ओर अवश्य दौड़ जायगी और पाठकगण अधिक संख्या में उसे पढ़ने लगेंगे। फल यह होगा कि उन पाठकों की रुचि दूषित हो जायगी और वे सदैव ऐसी पुस्तकों की मांग साहित्य संसार में रक्खेंगे जो कुरुचिपूर्ण होंगी। फल उसी के अनुरूप होगा। लेखक-गण, जो रुपये और यश के इच्छुक हैं, वैसी ही पुस्तकें लिखने लगेंगे और सारे साहित्यक्षेत्र को कलुषित कर डालेंगे। हिन्दी-साहित्य के विकास की १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में क्या दशा थी? सूर के राधाकृष्ण ने जब नायक-नायिकाओं का रूप रक्खा, तब जनता विलास के सागर में डूब गई। उस समय किस प्रकार का साहित्य निर्मित हुआ था, यह सभी हिन्दी-प्रेमी जानते हैं। उस समय जनता वास्तविक धर्म के तत्वों को भूल गई थी। भगवान के नाम भर से प्रेम रह गया था, उनके आदर्शों से नहीं। ऐसी स्थिति में—

'राति न सुहाति न सुहात परभात आली.
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों'

अथवा—

'पति रति की बतियां कहीं, सखी लखी मुसकाय।
कै–कै सबै टलाटली, अली चली सुख पाय॥'

यही पंक्तियां बार-बार पाठकों के मुख से निकलेंगी; फिर जब युगान्तर होने पर भारतेन्दु जैसा कोई लेखक उत्पन्न होकर जनता की प्रवृत्ति को मोड़ेगा तब कहीं जाकर साहित्य फिर संयम से संसार की ओर देखता हुआ खड़ा होगा, अन्यथा नहीं। तब तक जनता की यही रुचि, यही भावना, यही गति और यही मति रहेगी। ऐसी रीति के प्रवृत्त करने वाले वे हैं जो वैसी कृति का प्रचार करते हैं। सत्रहवीं शताब्दी में वे साधु कहलाते थे, बीसवीं शताब्दी में समालोचक।

समालोचना में चौथी बात यह होनी चाहिए कि उसकी भाषा शिष्ट और सभ्य हो। जो कुछ लिखा जाय वह ऐसी भाषा में हो, जो सभ्य लोगों को सुनने में अरुचिकर प्रतीत न हो। समालोचना का उद्देश्य तो यह है कि वह सभ्यतापूर्ण भाषा में गुण-दोषों की समीक्षा विशद रूप से करे। यदि समालोचना में भद्दे और गन्दे शब्दों ने स्थान पा लिया तो उससे और सभ्यता से सम्बन्ध ही क्या रहा? वह तो ख़ासी लड़ाई सी हो गई। परस्पर गाली-गलौज और वैमनस्य के सिवाय उसमें रहा ही क्या? जिस प्रकार दो दलों में युद्ध के समय परस्पर इस बात का ख़्याल रखा जाता है कि जहाँ तक हो सके विरोधी या

विपक्षी दल को क्षति पहुँचे, ठीक वैसा ही ख्याल इस प्रकार की समालोचना में होता है। इसमें यह विधान नहीं रह जाता कि मित्र या गुरु की हैसियत से लेखक को बुरे मार्ग से भले मार्ग में ले जायँ और उसके प्रशंसनीय कार्यों पर दाद दें। यहाँ तो गाली-गलौज के पत्थर और ढेलों से सारा साहित्य-क्षेत्र ही तहस-नहस हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप पण्डित पद्मसिंह शर्मा का 'सतसई-संहार' ही ले लीजिए। बेचारे विद्या-वारिधि ज्वालाप्रसाद पर उन्होंने व्यंग और गालियों के वे वाक्य-बाण चलाए हैं जिन्हें सुन कर विद्या-वारिधि की रूह ही फना हो गई होगी। उन्होंने बिहारी-सतसई की समालोचना बड़ी सुन्दर रीति से की है। उससे उनकी विद्वत्ता का पता चलता है। तुलनात्मक समालोचना की तो उन्होंने सुन्दर परिपाटी-सी निकाल दी। उसे दृष्टि में रखते हुए सतसई-संहार पर आश्चर्य होता है। उन्होंने बार-बार विद्या-वारिधि जी को खूब कोसा है। शायद पुराना वैर निकाला है।

इस वाग्युद्ध में साहित्य का क्या भला हो सकता है, यह समझ में नही आता। ऐसी समालोचना की रीति हिन्दी-साहित्य में न चलनी चाहिये।

समालोचना में पांचवीं बात जो होनी आवश्यक है, वह यह है कि उसमें कोरी वाहवाही ही न हो। "वाह कितना सुन्दर है - कितना भावपूर्ण है! कितना मनोरंजक है!" केवल इनसे ही समालोचना का कलेवर शोभा नहीं पा सकता। (समालोचना में गुण-दोष का भाव होना चाहिए—केवल शब्द

मात्र नहीं) यह बात दूसरी है कि समालोचक किसी लेख-विशेष से अपनी प्रसन्नता प्रकट करे, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह केवल प्रशंसा या निन्दा के शब्दों में अपनी आलोचना का विस्तार भर दे।

हिन्दी में अभी समालोचना का स्वर्ण-युग नहीं आया। उसके विकास में अभी भविष्य न जाने क्या करेगा, किन्तु यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जिन मार्गों पर हमारी समालोचना जा रही है वे परिणाम में सुखद नहीं हैं। यदि अंग्रेजी समालोचकों की ओर दृष्टि उठावें तो हमें ज्ञात हो जायगा कि उन्होंने समालोचना में जिस शैली का अनुसरण किया है वह सर्वांश में सुरुचिपूर्ण और द्वेषहीन है। पाश्चात्य समालोचक तो एक पुस्तक की समालोचना में दूसरी पुस्तक तैयार कर लेते हैं। शेक्सपियर के एक-एक नाटक की समालोचना के लिए सौ-सौ पुस्तकें तैयार हो गई हैं। हमारे यहाँ शिशुओं के समान अब तक आपस में लड़ने और झगड़ने की ही प्रवृत्ति पाई जाती है।

यह तो हुई समालोचकों की बात। अब ज़रा उन बेचारे लेखकों की ओर आइए जिनकी रचना समालोचना की आग पर तपाई जाती है।

कोई भी लेखक, जिसकी आयु चाहे नौ, उन्नीस अथवा निन्नानवे वर्ष की हो, अपनी लेखनी काग़ज पर केवल दो विचारों के वशीभूत हो कर रखता है। प्रथम तो यह कि उसे कुछ कहने की आकांक्षा है और वह अधिक से अधिक व्यक्ति

से कहना चाहता है और अमर होकर कहना चाहता है। दूसरे वह यह जानना चाहता है कि लोग उसकी लेखिनी के बारे में क्या कह रहे हैं।

प्रायः देखा जाता है कि किसी नई पुस्तक के प्रकाशित होते ही आलोचकों की आंखें उस पर उसी प्रकार खिंच जातीं हैं जिस प्रकार मछली के ऊपर आते ही बगुले की। वे बड़ी उत्कण्ठा से उसकी उत्कृष्टता की पूरी जांच करने के पहले ही उस पर अपनी आलोचना की गोली "दाग" देते हैं। बेचारे नये लेखक या ग्रन्थकार स्वभाव से ही उत्सुक और संकोची रहते हैं। उत्सुक रहते हैं इसलिए कि देखें, आलोचक उनकी लेखनी का स्वागत किस प्रकार करते हैं और संकोच इसलिए कि कहीं कोई उनकी रचना को बुरा न कह दे। इसलिए वे अपनी रचना को लोगों की आँखों के सामने लाने में थोड़ा संकोच करते हैं।

ग्रन्थकार एक गर्भवती स्त्री के समान है। उसका लेखन-कार्य मानो गर्भावस्था की वह स्थिति है जिसमें कोई वस्तु तैयार होती है। गर्भवती स्त्री के समान ग्रन्थकार भी भावोन्मादी होता है। यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति लिये यदि कोई गर्वीली मुग्धा स्त्री यह सुन ले कि कोई उसके फूल से लाल को बुरा बतला रहा है तो वह शायद आजन्म उस दुष्ट आलोचक की ओर आँख उठा कर भी न देखे। उसी प्रकार नया ग्रंथकार यदि यह सुनले कि कोई उसकी नवीन उत्साहपूर्ण रचना को रद्दी कह रहा है तो वह उससे अपना ग्रन्थ छीने बिना कभी न रहेगा।

उसे इस बात का विश्वास है कि मैंने जो रचना की है उसमें मेरी सारी शक्तियों का समावेश है, मैंने उसे नौ महीने के अथक परिश्रम से निर्मित किया है। यह कैसे हो सकता है कि उसमें दोष हो! यह भावना केवल उन ग्रन्थकारों में होती है जिनमें ग्रन्थकार बनने का नशा रहता है; और जो उस क्षेत्र में अन्धे बन कर आ गये हैं।

ऐसी स्थिति में नये ग्रन्थकार की नई पुस्तक निकलते ही उस पर समालोचनाओं और सम्मतियों की बौछार वर्षाकाल की बूँदों की भाँति होने लगती है। किसी में प्रशंसा है तो किसी में निन्दा। बेचारा ग्रन्थकार किसी की लेखनी से प्रशंसा पढ़ कर हर्ष और संतोष से दुगना हो जाता है तो दूसरे से अपनी निन्दा सुनकर क्रोध के मारे ऐंठकर आधा ही रह जाता है। किसी समालोचक की वह सराहना करता है, क्यों कि उसने पुस्तक की प्रशंसा की है, उसके ज्ञान की गीता अपने मित्रों से करता है, तो किसी कुसमालोचक के लिए उसकी गालियों का द्वार खुल जाता है। वह दांत पीसता हुआ एक ही साँस में समालोचक के लिए न जाने क्या-क्या कह जाता है। सोते समय भी स्वप्न में उसको अपने क्रोध की धीमी आग में जलाता रहता है।

यह ग्रन्थकार की प्रथम दशा है। इसके बाद दूसरी स्थिति आती है जब उसमें सहन शक्ति की मात्रा बढ़ जाती है। वह आलोचना की आग में नहीं जलता। यह समझ लेता है कि

आलोचक मेरा शत्रु नहीं है। जो कुछ उसने लिखा है सद्भावों के वशीभूत हो कर ही लिखा है। उसमें द्वेष की मात्रा है ही नहीं। उस समय ग्रन्थकार में अपने दोष स्वीकार करने की क्षमता सी आ जाती है। वह चुपचाप सिर झुका कर आलोचक के नश्तर को सहन करता है। सोचता है—इस नश्तर से मेरे दोषों का काला रक्त ही निकलेगा और अन्त में मेरा ही हित होगा। ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार आलोचक को गालियां नहीं देता, वरन् उसको अपना पथ-प्रदर्शक मान कर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता है। वह सोचने लगता है कि प्रशंसा और गुणगान के शब्दों से आत्मिक प्रसन्नता और उत्साह तथा प्रोत्साहन अवश्य मिलता, पर उन शब्दों से हम में यह शक्ति नहीं आ पाती कि भविष्य में हम इससे अच्छी रचना करें अथवा हमारी रचना शक्ति में उन्नति का स्वरूप दृष्टिगत हो। आलोचना से सब से अधिक लाभ जो ग्रन्थकार का हो सकता है, वह उसकी शैली की विशदता और मँजी हुई भाव-शृङ्खला ही है। जब आलोचक और ग्रन्थकार में युद्ध छिड़ता है तो आलोचक को तो नहीं, किन्तु ग्रन्थकार को लाभ अवश्य पहुँचता है। उसके सारे दोष जो अब तक छिपे हुए थे, धीरे-धीरे प्रकाश में आने लगते हैं और अन्त में वह उनसे रहित होकर उसी प्रकार चमकने लगता है जैसे शरद-पूर्णिमा का चन्द्र।

इसके बाद ग्रन्थकार की तीसरी दशा आती है, जब वह संन्यासी की भाँति संसार की आलोचना से विरक्त-सा रहता है। उसे इस बात की चिन्ता ही नहीं है कि उसकी पुस्तक को

लोग क्या कह रहे हैं। उसने अपना हथियार माँज रखा है। उसकी तेजी को जब लोग नहीं सराहते तो कह बैठता है कि इस समय लोगों को गालियाँ देने दो, मेरी रचना का तिरस्कार करने दो। एक समय ऐसा आयगा, जब लोग मेरे एक-एक शब्द पर 'वाह' 'वाह' कह उठेंगे। यही हाल भवभूति का था। संस्कृत-साहित्य में उनका नाम अमर है। उनकी रचना से ज्ञात होता है कि लोगों ने उनकी कविता को प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा। वे लिख गये हैं कि किसी समय मेरी कविता संसार भर में फैल जायगी। वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। आज भवभूति अपनी श्रेष्ठ कविता के लिए विश्व-प्रसिद्ध हैं। यही वह स्थिति है जिसमें ग्रन्थकार अपनी लेखनी से ऐसे-ऐसे ग्रन्थ निकालता है जो विश्व-साहित्य में अमर हो जाते हैं। ग्रन्थकार किसी की परवाह नहीं करता। वह भावोन्मादी होकर अपने राग में इतना मग्न हो जाता है कि फिर उसे बाह्य संसार की चिन्ता ही नहीं रहती। वह तुलसीदास जी के शब्दों में कहने लगता है—

खल उपहास होइ हित मोरा।
काक कहहिं कल कंठ कठोरा॥

वास्तव में ऐसी स्थिति में ही ग्रन्थकार उन्नति करता है। वह अपने को एक राग में निहित कर सदैव के लिए ऐसा लीन कर लेता है कि फिर समालोचक की भारी से भारी आवाज भी उसको उस आनन्द से भिन्न नहीं कर सकती। समालोचना का काटता हुआ शीतल अनिल सनसन कर ग्रन्थकार के खुले

हुए वक्षःस्थल पर प्रहार करता हुआ चला जाता है, पर वह वीरता के साथ सिर उठाये अपने चौड़े वक्षःस्थल को गर्व के साथ सामने किए खड़ा रहता है। संसार में ऐसी कौन सी शक्ति है जो उसे उसके पथ से विचलित कर सकती है?

———

[६]

आलोचना के आधार

(श्री शिवनाथ)

आलोचना किसकी की जाय ? इस प्रश्न का हल सचमुच सरल नहीं है। आलोचना साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत साहित्य की हो अथवा स्वयं उसकी—उसके जीवन की, जिसके अंतर्गत उसके साहित्यनिर्माण की परिस्थिति आदि आते हैं। इस प्रश्न पर विचार भी बहुत दिनों से होता चला आ रहा है परन्तु कोई निश्चित हल निष्पन्न नहीं हो सका है। साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत साहित्य की आलोचना पर ही दृष्टि रखनेवाले समीक्षकों का वर्ग दो श्रेणियों में विभक्त हो सकता है। एक तो वह श्रेणी, जिसमें साहित्यकार के साहित्य की आलोचना करनेवाले ऐसे समीक्षक आयेंगे, जिनकी दृष्टि साहित्यकार के जीवन को देखने-भालने की ओर जाती ही नहीं। दूसरी वह श्रेणी, जिसमें साहित्यकार के साहित्य की आलोचना करने वाले ऐसे समीक्षक आवेंगे जो साहित्यकार के भले बुरे जीवन को जानते हुए भी आलोचना में उसका कोई उपयोग करने के पक्ष में नहीं हैं। ये साहित्य को ही देखना चाहते हैं,

साहित्यकार को नहीं। इन दोनों श्रेणियों में स्पष्ट अंतर यह है कि प्रथम श्रेणी के समीक्षक साहित्यकार के जीवन की मीमांसा करते हुए आलोचना करना ही नहीं चाहते; ऐसा न करने का संबन्ध किसी प्रकार के राग-द्वेष से नहीं है, प्रत्युत ऐसे समीक्षकों की आलोचना की प्रणाली ही ऐसी है। और दूसरी श्रेणी के समीक्षक साहित्यकार के जीवन से परिचित होकर भी आलोचना में उसे (जीवन को) टाल जाते हैं। वे अपनी प्रणाली के कारण ऐसा नहीं करते, और यह जान-बूझकर।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि आलोचना में साहित्यकार के जीवन-दर्शन की माँग की प्रवृत्ति नवीन है। फिर भी उतनी नवीन नहीं। पश्चिम में ईसा की उन्नीसवीं शती के मध्य के आस पास (१८२९-१८६९) फ्रांस के प्रमुख समीक्षक सांत (Sainte-Beuve) ने समीक्षा की इस शैली की ओर विशेष ध्यान दिया था। उनका कथन था कि साहित्यकार साहित्य में अपने व्यक्तित्व से अलग नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में उसके साहित्य की समीक्षा के पूर्व उसके व्यक्तित्व का अध्ययन अत्यावश्यक है। इसे वे समीक्षक का प्रथम कर्तव्य समझते थे। हम कहना इतना ही चाहते हैं कि समीक्षा की यह प्रणाली नवीन अवश्य है। पहले समीक्षकों की दृष्टि इस ओर विशेष नहीं थी। ऐसी अवस्था में प्राचीन समीक्षकों द्वारा अथवा समीक्षा की प्राचीन शैली के अनुकर्ता समीक्षकों द्वारा आलोचना में साहित्यकार के जीवन पर दृष्टि रखी गई हो, ऐसा नहीं मिलता। प्राचीन समीक्षकों से हमारा तात्पर्य

विशेषतः निर्णयात्मक समीक्षा (Judicial Criticism) की प्रणाली पर चलने वाले समीक्षकों से है। साहित्यकार के जीवन पर दृष्टि रखते हुए समीक्षा करने वाला समीक्षक इस प्रणाली पर चलने वाले समीक्षकों को यदि दोषी ठहराये तो यह उसका अन्याय होगा। कारण कि उसका लक्ष्य वैसा नहीं है जैसा कि जीवन पर विशेष दृष्टि रखने वाले समीक्षकों का। हाँ, हम समीक्षा की प्रणाली के विषय में चाहे जो कहें। कुछ कहना तो समीक्षा की इस प्रणाली के विषय में भी नहीं चाहिए, क्योंकि समीक्षा के विकास की कोटि में इस समीक्षा का भी आगमन होता ही है। इस कोटि से चलकर ही समीक्षा विकसित होती है।

साहित्यकार के जीवन से परिचित होकर भी जो समीक्षक आलोचना में उसका उपयोग नहीं करना चाहते अथवा नहीं करते उसकी मीमांसा भी उनके लक्ष्य पर दृष्टि रखकर ही होगी। इसमें तो संदेह नहीं कि ऐसे समीक्षकों की दृष्टि साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत साहित्य पर रह सकती है। अभिप्राय यह कि साहित्यकार के जीवन से परिचित रहते हुए और उसका उपयोग करते हुए भी ये उसके द्वारा प्रस्तुत साहित्य की मीमांसा में पूर्ण सतर्क रहते हैं। अपना कार्य पक्की ईमानदारी के साथ करते हैं। ये अपने कार्य के लिये समर्थ भी होते हैं और साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत साहित्य के वस्तु-पक्ष तथा कला-पक्ष दोनों की मीमांसा पूर्णरूप से करते हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार के आलोचक उच्चकोटि के समीक्षकों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत

साहित्य की मीमांसा में ये इतने व्यस्त रहते हैं कि इन्हें किसी दूसरे पक्ष की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं मिलता। ऐसे समीक्षकों का लक्ष्य साहित्य ही होता है; अतः उसके जीवन को जानते हुए भी उस पर ध्यान नहीं देते।

ऊपर ऐसे समीक्षकों की बात कही गई, जो साहित्यकार के जीवन से परिचित होकर भी अपने लक्ष्य की व्यस्तता के कारण उसका उपयोग नहीं करते, अथवा नहीं कर पाते। विचार का एक पक्ष यह भी है कि साहित्यकार के जीवन से कितने समीक्षक परिचित ही रहते हैं ? निस्सन्देह ही इसका स्पष्ट उत्तर है, बहुत कम। अधिक प्रयत्न करने पर भी साहित्यकार के जीवन के विषय में या तो कुछ नहीं प्राप्त होता या प्राप्त भी होता है तो अत्यल्प। यह बात प्राचीन साहित्यकारों के विषय में ही नहीं कही जा रही है, नवीन साहित्यकारों के विषय में भी कही जा रही है। यदा-कदा तो नवीन साहित्यकारों के निकटवर्ती भी उनके जीवन के विषय में सब कुछ जानते हुए भी न जाने किस मोह के कारण कुछ भी बताने के लिए उद्यत नहीं होते। सुना जाता है, प्रसाद जी के कुछ निकटवर्ती भी उनके यथार्थ जीवन को अपने पेट में छिपाये हुए हैं। देखिये वह बाहर कब आता है। कई साल तो बीत चुके। इससे यह स्पष्ट है कि साहित्यकार के जीवन और व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करना बड़ा कठिन हो जाता है। इस कार्य की कठिनता के कारण भी कुछ समीक्षक इस ओर प्रवृत्त नहीं हो पाते।

साहित्यकार के व्यक्तित्व और जीवन की भूमिका पर साहित्य की समीक्षा की शैली भी है और साहित्यकार के सा की भूमिका पर उसके व्यक्तित्व और जीवन को प्रस्तुत कर शैली भी। अर्थात् यदा-कदा समीक्षाकार साहित्यकार के सा के आधार पर उसके जीवन और व्यक्तित्व का स्पष्ट उद् करता है। कभी-कभी साहित्यकार के साहित्य द्वारा निश्चि से उसके जीवन के विषय में बहुत सही-सही बातें मिल ज हैं, और ये प्रामाणिक भी समझी जाती हैं। परन्तु, क्योंकि विषय का सम्बन्ध प्रायः अतीत से होता है, जिसे देखने-सुनने कोई नहीं रहता है, अतः प्रायः कल्पना का ही उपयोग करते है, जिसके द्वारा निश्चय का एक ही रूप स्थापित करने में ब ही कठिनाई होती है। गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में बहु बातें ऐसी हैं, जिनके द्वारा उनके जीवन का उद्घाटन हुआ परन्तु जो बातें विदित हुई हैं, उनके विषय में कई मत हैं। हम यह नहीं कहते कि इन बातों में सभी सच अथवा झूठ है, अवश्य ही कोई पक्ष ऐसा हो सकता है जिसमें पूरी स हो। किसी साहित्यकार के जीवन के विषय में जानकारी के उसके समकालीन साहित्य, इतिहास आदि से सहायता ली है। और ऐसी अवस्था में उसका सही जीवन भी यदा-कदा सकता है। लेकिन 'साहित्यकार का निश्चित जीवनवृत ऐसा कहने और इसे स्वीकार करने में मन आगापीछा देखने लगता है। कारण कि सहायता प्रायः कल्पना से ली है। अभिप्राय यह कि साहित्यकार द्वारा तथा उसके समक

साहित्य इतिहास आदि द्वारा उसके (साहित्यकार के) जीवनवृत्त का निर्धारण सभी अंशों में प्रामाणिक स्वीकृत नहीं किया जा सकता; क्योंकि ऐसी अवस्था में समीक्षाकार की कल्पना का उपयोग भी प्रायः देखा जाता है। कम से कम हिंदीवाले तो ऐसी बातों से पूर्ण परिचित हैं। बिहारी के किन्हीं दोहों के आधार पर वे बड़े भारी ज्योतिषी, दार्शनिक आदि प्रमाणित किये जा चुके हैं। इस प्रकार की समीक्षा आज भी प्रायः अप्रौढ़ समीक्षकों द्वारा होती हुई दिखाई ही पड़ती है—और प्रायः नवीन और वर्तमान कवियों को लेकर।

अभी विचार मुख्यतः जीवन को ही लेकर हुआ है, व्यक्तित्व को लेकर नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि साहित्यकार का व्यक्तित्व उसके साहित्य में स्पष्ट रूप से अथवा अस्पष्ट रूप से अवश्य उतर आता है। वह अपने साहित्य में अपने व्यक्तित्व को उतरने से सचमुच नहीं रोक पाता। हाँ, साहित्यकार के साहित्य से उसके असली व्यक्तित्व को निकाल पाना अथवा न निकाल पाना यह समीक्षक की सामर्थ्य पर निर्भर है। उसके साहित्य द्वारा उसके सच्चे व्यक्तित्व को निकाल लेना सचमुच दुरूह कार्य है। दुरूहता तब न उपस्थित हो सके जब समीक्षक के सामर्थ्यवान् होने के साथ ही साहित्यकार भी अपने सच्चे व्यक्तित्व को अपने साहित्य में उतारे, परन्तु सभी साहित्यकार अपने सच्चे—सत्-असत् दोनों—व्यक्तित्व को अपने साहित्य में आने देते हैं, इसमें संदेह है। इसे तो मानना ही पड़ेगा कि सभी साहित्यकार महात्मा नहीं

होते । वे इतने ऊपर उठे हुए नहीं होते कि उन्हें अपने जीवन और व्यक्तित्व की भली बुरी सभी बातों को उद्‌घाटित करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता । अपने जीवन और व्यक्तित्व के प्रति इस प्रकार की तटस्थता बड़ी साधना का परिणाम होती है और यह साधना विरल व्यक्ति में ही मिल सकती है । ऐसी अवस्था में साहित्यकार अपने जीवन और व्यक्तित्व का प्रायः सत्पक्ष ही अपने साहित्य में उतरने देता है । वह अपने जीवन तथा व्यक्तित्व का असत् पक्ष अपने साहित्य में नहीं आने देता, अतः वह बुरा है, हम यह दोष भी उस पर नहीं लगा सकते । कारण कि वह लोक-लाज के कारण अपने असत् पक्ष को अपने साहित्य में नहीं आने देता । 'ऐसा करने से लोग हमें बुरा कहेंगे' कम से कम लोक का इतना भय तो उसमें है ही और सच्ची बात पर लोक से डरनेवाला व्यक्ति निश्चित रूप से बुरा नहीं कहा जा सकता । साहित्यकार द्वारा साहित्य-रचना की इस प्रवृत्ति के कारण समाज का भी उपकार होता है । समाज के सामने असत्पक्ष-संयुक्त साहित्य नहीं आ पाता । कहना न होगा कि ऐसे साहित्यकार निश्चय ही आदर्शवादी होते हैं, अतः उनका साहित्य भी आदर्शवादी होगा, और ऐसी अवस्था में उनके साहित्य द्वारा लोक का अनुपकार नहीं हो पाता ।

इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य में अपने सत् व्यक्तित्व और जीवन को ही लाने वाला साहित्यकार आदर्शवादी होता है और विचारशील भी, गम्भीर भी । कुछ साहित्यकार ऐसे होते हैं जो

अपने जीवन और व्यक्तित्व के सत्-असत् दोनों पक्षों को अपने साहित्य में उतार देते हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे होते हैं जो प्रायः अपने जीवन और व्यक्तित्व के असत् पक्ष को ही अपने साहित्य में व्यक्त करते हैं। निस्संदेह ही ऐसे लोगों को लोक-लाज की परवाह नहीं रहती और ये लोक से डरते भी नहीं। ये कुछ स्वतन्त्र दिल दिमाग़ के होते हैं—उद्दंड, उच्छृङ्खल, बंधनहीन। ये सच्चे यथार्थवादी कहे जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे साहित्यकारों के साहित्य द्वारा लोक का उपकार बहुत कम हो पाता है, अथवा हो ही नहीं पाता। ऐसे लोगों के साहित्य के कला-पक्ष में चाहे जितनी मार्मिकता हो, परन्तु इनका वस्तु-पक्ष लोक के लिए—विशेषतः सामान्य जनता के लिए—अनुपकारी ही होता है। यहाँ इसे भी कह दें कि ऐसे लोगों में गांभीर्य की मात्रा कम होती है। और क्योंकि ऐसे साहित्यकारों में गांभीर्य की कमी होती है अतः इनके जीवन और व्यक्तित्व का प्रभाव शीघ्र ही इनके साहित्य पर उतर आता है। ये इतने ओछे अथवा अविचारशील होते हैं कि ये अपने भले-बुरे सभी को व्यक्त होने से रोक नहीं पाते। आदर्शवादी साहित्यकार अपनी विचारशीलता और गंभीरता के कारण अपने सत् पक्ष को ही साहित्य में आने देता है। इमें कहना इतना ही है कि साहित्यकार के ओछेपन के कारण ही उसके जीवन तथा व्यक्तित्व का भला-बुरा सभी उसके साहित्य में बहा चला आता है। वह इतना सामान्य होता है कि अपने को छिपा नहीं पाता। तो, बात यह चल रही थी कि साहित्य-

कार प्रायः अपने जीवन और व्यक्तित्व के सत् पक्ष को ही अपने साहित्य में आने देता है। वह ऐसा कर चाहे आत्मगोप्ता ही क्यों न सिद्ध किया जाय, परन्तु वह उपकारी अवश्य सिद्ध होता है।

जब साहित्यकार अपने साहित्य में अपने पूरे व्यक्तित्व को नहीं आने देता तब उसके साहित्य द्वारा उसके सही और पूरे व्यक्तित्व का उद्घाटन भी असंभव है। ऐसी अवस्था में साहित्यकार के साहित्य द्वारा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करने की बात समीक्षा के क्षेत्र में सर्वांशतः साध्य नहीं हो सकती। हाँ, उसके व्यक्तित्व की कुछ बातें उसके साहित्य द्वारा लक्षित तो की ही जा सकती हैं। परन्तु इस प्रकार निकाले गये साहित्यकार के व्यक्तित्व को पूर्णतः सत्य प्रमाणित करने का साहस संभवतः कम समीक्षक कर सकेंगे।

अब रही बात साहित्यकार की आलोचना की, उसके जीवन की आलोचना की, जिसके अंतर्गत उसके आचार-विचार, उसके साहित्य-निर्माण की परिस्थिति आदि आते हैं। विचार आलोचना के आधार पर हो रहा है, अतः स्मरण यह रखना है कि साहित्यकार की आलोचना का लक्ष्य है इस प्रकार की आलोचना के आधार पर उसके साहित्य की आलोचना का निर्माण करना, अर्थात् उसके जीवन और व्यक्तित्व की छान-बीन के आधार पर उसके साहित्य की मीमांसा करना। किसी साहित्यकार के जीवन और व्यक्तित्व की जानकारी की कठिनाई की चर्चा पहले हो चुकी है। अतः उसके जीवन की मीमांसा के आधार पर उसके साहित्य की समीक्षा का होना तभी संभव है जब उसके जीवन के विषय

अपेक्षित सामग्री उपलब्ध हो। सामग्री के उपलब्ध होने के (प)श्चात् ही इस प्रकार की समीक्षा के खड़े होने की सम्भावना है।

इसे अस्वीकार करने की गुंजाइश नहीं कि साहित्यकार के (जी)वन और व्यक्तित्व की जानकारी के पश्चात् उसके साहित्य (क)ी समीक्षा में सुविधा रहती है, कारण कि साहित्य में साहित्यकार (के) प्रतिबिंब का पड़ना स्वाभाविक है। साहित्यकार के जीवन (की) परिस्थिति, तदोद्भूत उसके आचार-विचार, रचना का (नि)र्माण-काल और उसकी परिस्थिति आदि के परिचय द्वारा (नि)स्संदेह ही सहानुभूति-पूर्वक उसके साहित्य की समीक्षा में (आ)सानी होती है और साहित्यकार के प्रति अन्याय होने की बात (भ)ी प्रायः इस अवस्था में नहीं उठ सकती—यदि समीक्षक सहृदय (हो) तो आलोचना के लिए इस प्रकार की सुविधा के रहते हुए (भ)ी प्रश्न यह उठता है कि साहित्य की आलोचना में साहित्यकार (क)े जीवन और व्यक्तित्व का उपयोग कितना हो। उसके जीवन और व्यक्तित्व के वर्णन के साथ-साथ उसकी रचना का भी वर्णन ही कर दिया जाय अथवा जीवन और व्यक्तित्व के आधार पर उसके साहित्य की सर्वांगीण समालोचना प्रस्तुत की जाय। यहाँ यह बात इसलिए कहनी पड़ रही है कि समीक्षा को इस आधार पर ले चलनेवाले समीक्षाकार प्रायः साहित्यकार के जीवन और व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने में ही व्यस्त देखे जाते हैं, उसके साहित्य की सम्यक् समीक्षा में तल्लीन नहीं। समीक्षा के इस आधार को लेकर हिंदी में संभवतः कोई पुस्तक तो प्रस्तुत नहीं हो पाई है, परन्तु इस पद्धति पर जो समीक्षात्मक लेख यदा-कदा

प्रस्तुत होते हैं, उन्हें देख कर यह बात प्रामाणिक मानी जा सकती है। अँगरेज़ी की समीक्षा-पुस्तकों द्वारा यह बात स्पष्ट अवश्य हो जायगी। हमारा कहना यह है कि साहित्यकार के साहित्य की समीक्षा में उसके जीवन और व्यक्तित्व की जानकारी का उपयोग किया जाय, इनके ही वर्णन का प्राधान्य न रखा जाय। प्राधान्य रखा जाय उसके साहित्य की सर्वांगीण समीक्षा का ही। उसके जीवन और व्यक्तित्व का वर्णन साधन ही बनाया जाय, साध्य नहीं; साध्य हो उसके साहित्य की समीक्षा ही।

एकाध स्थल पर सर्वांगीण समालोचना का नाम लिया गया है। इससे तात्पर्य यह है कि समीक्षा साहित्य के वस्तु-पक्ष की भी हो और कला-पक्ष की भी, और दोनों कार्य समान रूप से हों। प्रायः देखा यह जाता है कि आलोचक साहित्य के वस्तु-पक्ष की समीक्षा में ही व्यस्त रहते हैं और कला-पक्ष की समीक्षा टाल जाते हैं, यदि नहीं भी टाल जाते तो कुछ इधर-उधर कर उसे चलता कर देते हैं। साहित्य में यदि कला-पक्ष का महत्त्व कम स्वीकार नहीं किया जाता तो उसकी समीक्षा पर भी समीक्षक की दृष्टि जानी चाहिए और उसी प्रकार तथा उतनी ही जानी चाहिए जिस प्रकार तथा जितनी वस्तु-पक्ष पर जाती है। आज की समीक्षा में कला-पक्ष की अवहेलना स्पष्ट लक्षित हो रही है। इसमें संदेह नहीं कि कला-पक्ष की समीक्षा सामर्थ्यसापेक्ष है, सरल वस्तु नहीं, फिर भी समालोचना के नाते समीक्षक की दृष्टि इस पर भी पूर्णतः अवश्य जानी चाहिए।

Nane class.

[७]

बोलियों का प्रश्न

(पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी)

'बारह कोस पर बोली बदलै, तरवर बदलै साखा'—कहावत के अनुसार क्रमशः एक बोली बदलती-बदलती जब बहुत दूर पहुंच जाती है, तब हम उसे भिन्न भाषा मानने लगते हैं; क्योंकि जहाँ से वह चलती है, वहाँ की बोली से जब हम उसे मिलाते हैं, तो हमें दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई देता है। परन्तु यदि हम रेल पर दिल्ली से कलकत्ते की यात्रा करने के बदले पैदल चलें और इसका ध्यान रक्खें कि दिल्ली की बोली ने रास्ते में कहाँ क्या रंग बदला, तो हमारी समझ में अनायास आ जायगा कि क्यों और कैसा भेद पड़ा। वैदिक लोगों ने उच्चारण पर बड़ा जोर दिया था, जिसका फल यह हुआ कि आज भी कुछ ऐसे वैदिक मिल सकेंगे, जो वेद-मन्त्रों का उच्चारण उसी प्रकार कर सकते हैं, जैसा उनके पूर्वज करते आये हैं, अथवा जैसा उनके पूर्वजों ने प्रचलित किया था। परन्तु उन प्राचीन वैदिकों के समय ही कुछ लोग ऐसे निकल आए जो अभ्यासवश

अथवा मुँह के भीतर की बनावट के कारण वैसा उच्चारण नहीं कर सकते थे, यद्यपि प्राचीन लोगों ने इन विकृतियों से वैदिक उच्चारण की रक्षा करने के उद्देश्य से शूद्रों को वेद पढ़ाना बन्द कर दिया था। फिर भी आज हम आश्चर्य के साथ देख रहे हैं कि जिस पंजाब के शाकल स्थान के नाम पर ऋग्वेद की एक शाखा का नाम ही शाकल पड़ गया, उसमें साधारण शब्दों के शुद्ध उच्चारण में भी लोग असमर्थ देखे जाते हैं। आज बिरला ही पंजाबी सूत्र, स्तोत्र आदि शब्दों के शुद्ध उच्चारण करता मिलेगा—उस स्यालकोट में भी, जो ऋग्वेद की शाकल संहिता की जन्म-भूमि है। यह बात साधारण लोगों के विषय में ही नहीं, पण्डितों के सम्बन्ध में भी है, जो सुत्तर और सतोत्र बोलते सुने जाते हैं। पंजाबियों के इस उच्चारण ने यहाँ तक ज़ोर पकड़ा है कि अंगरेज़ी के स्टूल, स्टाप और स्कूल-जैसे शब्दों को भी वे सटूल, सटाप और सकूल बोलते हैं। यही नहीं, कभी-कभी वे वर्णविपर्यय भी कर देते हैं, अर्थात् जहाँ जो वर्ण होना चाहिए, वहाँ से उसे हटाकर दूसरा अक्षर उसकी जगह रख देते हैं। बहुधा आगे का अक्षर पीछे और पीछे का आगे कर दिया जाता है, जैसे—जहाज़ और चाकू शब्दों को हजाज और काचू। यह पंजाबियों की ही विशेषता नहीं है। राजपूताने और बिहार वाले भी ऐसा करते देखे जाते हैं। मतलब को पंजाबी और राजपूताने वाले मतबल ही कहते हैं। आरे में 'पहुँचना' 'चहुँपना' और पटने में 'अमरूद' 'अड़मूद' तथा 'आदमी' 'आमदी' बन जाता है। पटने की एक

विशेषता है 'र' को 'ड़' और 'ड़' को 'र' बोलना। इसीसे 'अमरूद' से 'अड़मूद' बना और 'पांडे' शब्द 'पांरे' हो गया। पंजाबी में एक विशेषता यह भी है कि वर्ग के तृतीय वर्ण के बदले प्रथम वर्ण बोलना, जैसे—घोड़ा' न कहकर 'कोड़ा' कहना और 'भाई' के बदले 'पाई' बोलना। काश्मीरी लोग 'भ' के बदले 'व' ही बोलते हैं, जैसे—'भैरव' को 'वैरव' और 'भगवती' को 'वगवती'। मराठी में सम्बन्धवाचक जो 'चा' प्रत्यय है, वह बहुधा 'सा' बोला जाता है।

हिन्दी बड़ी व्यापक भाषा है। वह पूर्वी पंजाब से लेकर बंगाल की पश्चिमी सीमा तक फैली हुई है। इसका साधारण रूप 'खरी बोली' है, जो आज कल 'हाई जर्मन' (High German) के ढंग पर अंगरेज़ी में 'हाई हिन्दी' (High Hindi) कहाती है। परन्तु इसकी बहुत-सी बोलियाँ हैं, जैसी सब भाषाओं में होती हैं। भाषा-शास्त्र के पाश्चात्य विद्वानों ने इस हिन्दी भाषा के चार भेद माने हैं–एक पश्चिमी हिन्दी, दूसरा पूर्वी हिन्दी, तीसरा राजपूतानी और चौथा बिहारी। परन्तु हमारे मत से दो भेद ही यथेष्ट हैं। राजपूतानी का अन्तर्भाव पश्चिमी हिन्दी में और बिहारी का पूर्वी हिन्दी में हो जाता है। प्राकृत के दो मुख्य भेद शौरसेनी और मागधी हैं,और इन्हीं से पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी निकली हैं। शौरसेनी और मागधी के मेल से जो अर्ध-मागधी बनी, वही शौरसेनी और मागधी के बीच के क्षेत्र की भाषा हुई

भाषा की परीक्षा वा कसौटी व्याकरण है। इसी से हमें एक भाषा से दूसरी भाषा की भिन्नता का ज्ञान होता है। उदाहरण लीजिये। खरी बोली में कहते हैं—'हम जाते हैं।' इसका व्याकरण यह है कि लिंग-वचन में क्रिया कर्त्ता के अनुकूल रहती है। इसका पालन 'हम जात हैं' और 'हम जात हन' वाक्यों में तो होता है; पर 'हम जाइत है' वाक्य में नहीं होता; क्योंकि पहले दोनों वाक्यों में 'हैं' और 'हन' कर्त्ता 'हम' के अनुकूल पुँल्लिङ्ग बहुवचन में है; पर 'है' हम कर्त्ता का साथ नहीं देता, क्योंकि यह एकवचन है। इस से जान पड़ा कि जहाँ 'हम जात हैं' अथवा 'हम जात हन' की बोली का अन्त होता है और 'हम जाइत है' का आरम्भ होता है, वहीं से अलग-अलग भाषाएँ वा बोलियां हो जातीं हैं। यह स्थान कानपुर है, जहाँ तक 'हम जात हैं' वा 'हन' बोला जाता है। इसके आगे गंगा-पार 'हम जाइत हैं' बोली बोली जाती है। गंगा के इस पार बहुत दूर तक, फतहपुर के ज़िले तक, वही 'हम जात हन' वा 'जाइत हन' लोग बोलते हैं। यह ढग प्रयाग वा इलाहाबाद की सीमा के आरम्भ तक देखा जाता है।

पश्चिमी हिन्दी की दो मुख्य बोलियाँ हैं—एक ब्रजभाषा और दूसरी कन्नौजी। ब्रजभाषा के क्षेत्र से लगा हुआ बुन्देलखण्ड है। पहले ब्रज का क्षेत्र ८४ कोस का समझा जाता था और आज भी भिण्ड, भदावर, आगरा, मथुरा, मैनपुरी, इटावा, ऐटा, अलीगढ़ आदि के संलग्न स्थान ब्रजभाषा के क्षेत्र हैं। इसके बाद कन्नौजी है, जो फर्रुखाबाद और कानपुर तथा अंशतः

फतहपुर ज़िलों की बोली है। गंगा पार करते ही आप पूर्वी हिन्दी के क्षेत्र में पहुँच जाते है, यद्यपि यहाँ पूर्वी हिन्दी विशुद्ध रूप में आपको नहीं मिलेगी। इसका कारण यह है कि जिस बैसवाड़े की बोली को भ्रमवश लोग अवधी कहते हैं, वह पूर्वी और पश्चिमी बोलियों का सम्मिश्रण है। प्राकृत नाम-करण के ढंग पर हम इसे अर्ध-मागधी कह सकते हैं, क्योंकि इसमें पश्चिमी और पूर्वी बोलियों का मेल हुआ है। अनुमान है कि बैस राजपूत हर्ष वर्धन का साम्राज्य नष्ट होने पर अन्तर्वेद से जो बहुत-से बैस गंगा-पार जा बसे थे, उन्हीं के कारण इसका नाम बैसवाड़ा पड़ गया। इन बैसों के साथ ब्राह्मण भी उधर से आये, और इस प्रकार बैसवाड़ा अन्तर्वेदियों का ही उपनिवेश बन गया। बैसवाड़े में जो बोली सुनने में आती है, वही बाघेलखण्ड में भी सुनाई देती है। इससे कितने ही लोग तुलसी-कृत रामायण अथवा रामचरित्र-मानस की भाषा को बाघेलखण्डी वा रोवांइ भी कहते हैं। परन्तु अभी यह निश्चय होने को बाक़ी है कि इसे बैसवाड़ी कहें या बाघेलखण्डी।

पूर्वी हिन्दी की एक विशेषता की चर्चा ऊपर हो चुकी, अब दूसरी की सुनिये। भविष्यकालिक क्रियापद भी इसमें पश्चिमी हिन्दी से भिन्न प्रकार के होते हैं। पश्चिमी हिन्दी के ब्रज-क्षेत्र में कहते हैं—'हम जाएँगे', और कन्नौजी में कहते हैं—'हम जाइहैं' वा 'जैहैं'। परन्तु पूर्वी में भविष्यकालिक क्रियापद बकारान्त होते हैं जैसे—'हम जाब'। इस 'जाब' के रूपान्तर बहुत हैं,

जैसे—जैवे, जैबे, जाइब, जैबा, जावो, जैबो, इत्यादि। औ
चूँकि इस से हम मागधी के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, इसलि
बँगला, उड़िया और आसामियाँ भाषाओं के भविष्यकालि
क्रियापद स्वरों के सामान्य हेर-फेर के रहते भी बकारान्त ह
देखे जाते हैं। भाषा की महिमा बड़ी है, क्योंकि कभी थोड़
प्रभावशील व्यक्तियों की भाषा स्थान-विशेष की मुख्य भाषा बन
जाती है, जैसे नेपाल के नेवार लोगों की भाषा नेवाड़ी वा नेवारी
है, और यही अधिकांश की भाषा है; परन्तु गोरखा से गये हुए
शासकों ने वहां गोरखा वा गोरखाली भाषा का प्रचार किया और
इसे ही मुख्य भाषा बना दिया। आज नेपाली भाषा का अर्थ
गोरखा वा गोरखाली भाषा ही समझा जाता है। अवध के हर-
दोई ज़िले और उन्नाव के मुरादाबाद आदि कई गांवों में जो
भाषा बोली जाती है, वही शाहजहांपुर और बरेली में भी बोली
जाती है, जैसी बैसवाड़े और बाघेलखण्ड की भाषा है।

अवध में कई तरह की बोलियां प्रचलित हैं, इस लिये अवधी
कोई भाषा नहीं कही जा सकती। परन्तु बकारान्त भविष्यकालिक
क्रियापदों के विषय में इन बोलियों में प्रायः कोई भेद नहीं है।
ई० आई० रेलवे की मेन लाईन पर जब हम प्रयाग से आगे
बढ़ते हैं, तब देखते हैं कि यहां का रंग कुछ और ही है। यहां 'है'
क्रियापद यद्यपि सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता, तथापि उसके समा-
नार्थक एक-दूसरे क्रियापद के दर्शन होते हैं, जिसका इस 'है'
से अर्थसादृश्य के सिवा कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यह है 'बाय'।

मिरज़ापुर में भी अल्पाधिक मात्रा में 'है' के रूपान्तर वा प्राचीन रूप 'अहै' के साथ 'बाय', 'बाटे' आदि रूप दिखाई दे जाते हैं। जैसे-जैसे हम पूर्व की ओर बढ़ते हैं, वैसे ही वैसे 'है' मैदान से हटता चला जाता है और बाय, बाटे आदि का प्रबल प्रताप दिखाई देने लगता है। काशी पहुंचते-पहुँचते शुद्ध पूर्वी हिन्दी की सीमा का अन्त हो जाता है और यहाँ से बिहारी बोलियों का श्रीगणेश होता है। यह हमें कैसे मालूम होता है ?

काशी या बनारस में जो बोली साधारण लोग बोलते हैं, वह भोजपुरी के निकट सम्बन्ध रखती है। भोजपुरी, मागधी और मैथिली—ये ही बिहारी हिन्दी की मुख्य बोलियाँ हैं। काशी की बोली को बिहारी कहने का कारण यह है कि मागधी के भूतकालिक क्रियापद लकारान्त होते हैं और काशी के भी हैं। 'वह गयल' 'गैल' मिर्ज़ापुर के पश्चिम शायद ही कहीं सुन पड़ता हो, पर बनारस और उससे पूर्व ज्यों-ज्यों आप बढ़ते जाएँगे त्यों-त्यों आपको भूतकालिक क्रियापद लकारान्त ही मिलेंगे। यहाँ तक कि बँगला, उड़िया और आसामिया भाषाएँ भी इसके अपवाद न होंगी। अब आप ने देख लिया कि बिहारी अथवा मागधी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी की यह विशेषता पश्चिमी तो क्या पूर्वी हिंदी में भी नहीं पाई जाती। पर इतने से ही अन्त नहीं हो जाता इस बिहारी में शब्द को लम्बायमान करने अथवा उसे तुच्छता प्रदर्शक रूप देने की एक रीति है। पश्चिम में जहाँ कहा जात है—'कहां जाते हो ?' वा 'जात हौ' वहाँ बनारस में बोलते

हैं—'कहाँ जात हौश्रा ?' यहाँ 'श्रा' व्यर्थ ही लगा दिया गया है; पर पूर्विये वा बिहारी इसके बिना कभी सन्तुष्ट नहीं होते। वे गली वा गल्ली कभी नहीं कहते, सदा 'गलिया' कहते हैं। इसी प्रकार कलम, दावात, कागज आदि को कलमिया, दवतिया, कगजवा ही कहते हैं।

एक बात विलक्षण देखने में आती है। ऊपर हमने बताया है कि लकारान्त भूतकालिक क्रियापद मागधी से निकली आधुनिक भाषाओं की विशेषता है। पर यह बात मराठी में भी है, यद्यपि मराठी का मागधी से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। हमने अभी इसका विचार नहीं किया कि किस संस्कृत वा प्राकृत रूप से आधुनिक किस भाषा का क्या रूप सिद्ध हुआ; परन्तु प्राकृतों का थोड़ा विचार कर लेना यहाँ अनुचित न होगा। शौरसेनी हिन्दी की उत्पत्ति हम बता चुके हैं। महाराष्ट्री और मराठी एक ही शब्द के दो रूप हैं सही, और महाराष्ट्री प्राकृत से ही वर्तमान मराठी भाषा निकली है–'महाराष्ट्रश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः' अर्थात् महाराष्ट्र की भाषा को उत्तम प्राकृत कहते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि महाराष्ट्र से वर्त्तमान महाराष्ट्र वा मराठा देश का बोध होता है अथवा उससे और कोई भूभाग समझना चाहिये। साधारणतः लोग महाराष्ट्र से वर्त्तमान महाराष्ट्र ही समझते हैं; परन्तु जान बीम्स ने अपने 'आधुनिक आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' ग्रन्थ में इस मत के विरुद्ध कहा है कि उसका अर्थ दोआब (अन्तर्वेद) और राजपूताना समझना चाहिये। यह अर्थ

मानने से महाराष्ट्र का अर्थ हर्ष के साम्राज्य से निकल सकता है। अवश्य ही इससे राजपूताने का बोध नहीं होता, पूर्वी पंजाब से लेकर प्रयाग तक का ही भूभाग सिद्ध होता है, तथापि राजपूताना उसके बाहर नहीं था, यह स्पष्ट है। इसके सिवा महाराष्ट्री प्राकृत से हिन्दी शब्दों का जितना सम्बन्ध स्पष्ट होता है, उतना मराठी शब्दों का नहीं होता। इससे भी महाराष्ट्री और हिन्दी का ही सान्निध्य सिद्ध होता है; मराठी का नहीं। और भी डा० मनोमोहन घोष का मत है कि महाराष्ट्री शौरसेनी का ही उत्तरकालीन रूप है। जो हो, महाराष्ट्री उसी तरह कविता की भाषा रही है, जिस तरह ब्रजभाषा कुछ दिनों पहले वर्तमान हिन्दी-कविता की भाषा थी। इसलिए महाराष्ट्री प्रकृष्ट प्राकृत कही जाती हो, तो आश्चर्य नहीं; परन्तु यह कहने से महाराष्ट्री का सम्बन्ध यदि मराठी से जननी-पुत्री का न सिद्ध हो, तो भी यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि मराठी का जन्म किस प्राकृत से है, क्योंकि इसके बिना मराठी की विशेषता का पता नहीं लगता।

जिस महाराष्ट्र की भाषा महाराष्ट्री थी, वह सचमुच महाराष्ट्र था, वर्त्तमान महाराष्ट्र की भांति छोटा न था। इसलिए मानना पड़ता है कि उस समय की महाराष्ट्री आज की हिन्दी की भांति महाराष्ट्र-भर की समप्रदेश की भाषा समान (Common Language) थी। इस प्रकार जैसे उससे हिन्दी का सम्बन्ध है, वैसे ही मराठी का भी है। वररुचि ने 'प्राकृत प्रकाश' के पहले नौ परिच्छेदों में जिस प्राकृत का व्याकरण बताया है, उसका कोई

नाम नहीं दिया है; परन्तु नवें परिच्छेद के अन्तिम अर्थात् १८ वें सूत्र में 'शेषं संस्कृतात्' लिखकर यह बताया है कि प्रत्यय, समास, लिंग, वर्णविधि आदि जिन सब विषयों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया, वे सब संस्कृत से ही लिए जायँगे। इसके बाद दसवें परिच्छेद में पैचाशी, ग्यारहवें में मागधी और बारहवें में शौरसेनी की चर्चा की गई है। पैचाशी और मागधी की प्रकृति शौरसेनी और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत बताई गई है। यही नहीं, बारहवें परिच्छेद अर्थात् शौरसेनी के वर्णन के अन्त में 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' लिख दिया गया है, जिससे प्रकारान्तर से पूर्वोक्त नौ परिच्छेदों में वर्णित प्राकृत 'महाराष्ट्री' कही गई है। इससे सिद्ध होता है कि वररुचि के समय में महाराष्ट्री मुख्य भाषा थी, जिससे वर्त्तमान आर्य भाषाएँ सिन्धी, पंजाबी, हिन्दी, गुजराती और मराठी ही नहीं, बँगला, उड़िया और आसामिया भी निकली हैं। पिछली तीनों भाषाओं का झुकाव मागधी की ओर, और पहली पाँच का शौरसेनी की ओर अधिक समझना चाहिए; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मागधी से उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। और भी 'प्राकृतप्रकाश' के द्वितीय परिच्छेद का ८ वाँ सूत्र है 'प्रतिवेतस पताकासु ड़:' जिसके अनुसार 'त' 'ड़' हो जाता है। इस नियम से 'कृत्' मराठी में 'केला' बना है। इससे स्पष्ट है कि बिहारी, बँगला, उड़िया और आसामिया में जो भूतकाल में 'ल' होता है, उससे मराठी का यह ल वा ड़ किसी अंश में भिन्न है। जो हो, 'कृत' (किया) पंजाबी

में कीता, गुजराती में कीधो, ब्रज में कीना, कनौज में कीन, पूर्वी में कियन, विहारी में कयल, बंगला और उड़िया में करिल तथा मराठी में केला होता है। इस लिये 'ल' वा 'ड़' को मराठी के भूतकालिक रूपों में देखकर आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं है।

कभी-कभी एक भाषा का दूसरी के साथ संघर्ष होने से एक में दूसरी के गुण-दोष आ जाते हैं। ऊपर जैसी विशेषता मराठी के भूतकालिक प्रयोगों में देखी गई है, वैसी ही बुन्देलखण्डी भविष्यकालिक प्रयोगों में भी पाई जाती है। बुन्देलखण्डी बोली ब्रजभाषा की शाखा-मात्र है, यद्यपि ब्रज की मिठास के बदले उसमें तीखापन और अक्खड़पन अधिक है। हमने ऊपर बताया है कि बकारान्त भविष्यकालिक क्रियापद पूर्वी हिन्दी अथवा मागधी प्राकृत से उत्पन्न भाषाओं की विशेषता है; परन्तु हम देखते हैं कि जो बुन्देलखण्डी शौरसेनी से उत्पन्न हुई है, उसमें भी 'करिबी' 'जानिबी' जैसे प्रयोग पाये जाते हैं। तुलसी-कृत रामायण में जब हमने इन्हें देखा, तब पूर्वी हिन्दी और बिहारी में खोजा; पर वहाँ इनका पता न लगा। पीछे पूछने पर मालूम हुआ कि ये बुन्देलखण्ड में आज भी प्रचलित हैं। वहाँ बाघेलखण्डी के संसर्ग से ये उत्पन्न हुये अथवा किसी अन्य कारण से यह बताना तो असम्भव है, पर इनके अस्तित्व में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। एक बात का और भी आश्चर्य यह है कि बँगला के इन्हीं क्रियापदों से इनका रूप सादृश्य ही नहीं, अर्थ-सादृश्य भी है। फिर भी अर्थ में कुछ सामान्य अन्तर है। बँगलामें यह मध्यम पुरुष के एक

वचन के लिये प्रयुक्त होते हैं; पर बुन्देलखण्डी में बहुवचन के लिये और वह भी आदरार्थ ! बँगला में अर्थ होगा—'तू करना', 'तू जानना'; पर बुन्देलखण्डी में होगा—'आप कीजिएगा', 'जानिएगा' इत्यादि ।

हम 'ल'कारान्त भूतकालिक रूपों का विचार करते-करते बहुत दूर चले गए थे । अब वहाँ से फिर ठिकाने पर लौटते हैं । हमने कहा था कि लकारान्त भूतकालिक क्रियापद बिहारी बोलियों की ही नहीं, मागधी प्राकृत से उत्पन्न सभी बोलियों की विशेषता है। परन्तु हमने आश्चर्य देखा कि बनारसी बोली में वर्त्तमान के रूप भी लकारान्त होते हैं-जैसे, जाईला,आईला(जाते हैं,आते हैं)। भूतकालिक रूपों की तरह इनमें भी लिङ्ग-भेद नहीं होता,अर्थात् 'हम जाईल' स्त्री भी बोल सकती है और पुरुष भी । इसी प्रकार वर्त्तमान को प्रकट करने के लिये जो आत्मनेपदी रूप 'वर्त्तते' से 'बाय, बाटे, बाड़े' रूप बने हैं, उनमें भी लिंग-भेद नहीं होता—जैसे, 'वह जात बाय' (बाटे, बाड़े)। परन्तु प्रथम पुरुष के बहुवचन की क्रिया का रूप 'बाटी' होता है—जैसे, 'हम आवत बाटी' । इस क्रियापद में भी लिंग-भेद नहीं होता और दोनों लिंगों में इसका प्रयोग होता है। भविष्यकालिक क्रियापद इस से भिन्न रीति पर बनते हैं, क्योंकि बकारान्त होने पर भी स्त्रीलिंग और पुंलिग के लिये अलग-अलग रूप हैं, जैसे—'कहाँ जाओगे' के लिए 'कहाँ जैबा' और 'कहाँ जाओगी' के लिए 'कहाँ जाबू' । बहुवचन प्रकट करने के लिये 'बाटे' व 'बाड़े' बना लेते हैं ।

कभी-कभी अनुस्वार के बदले 'न' लगाते हैं—जैसे, 'बायन' (हैं)। 'हैं ही नहीं' के बदले 'नाहीं बाटें' वा 'बड़लें नाहीं बाड़ें'।'

मिरज़ापुरी और बनारसी बोलियाँ लट्ठमार हैं। उनमें शिष्टता वा सभ्यता खोजना पत्थर में कोमलता ढूँढ़ना है। किसी की इज्जत इनमें नहीं हो सकती। मिरज़ापुरी में आपको तो 'तूँ' कहेंगे, पर अपने को 'हम पचै' बतावेंगे। जान पड़ता है, पंजाबी के 'तुसीं' की तरह यह 'तूँ' भी बहुवचन है। जैसे मिरज़ापुर में वैसे ही बनारस में समझिए। यहां 'हम पचै' नहीं बोलते। परन्तु प्रथम पुरुष के एक वचन का अभाव अवध में ही जान पड़ने लगता है। बैसवाड़े और अवध के उत्तरी जिलों में तो यह मिलता है; पर पूर्वी जिलों में इसे खोज निकालना कठिन हो जाता है मिरज़ापुर-बनारस से लेकर जहां से बंगाल की सोमा आरम्भ होती है, वहां तक प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष एक वचन का पता नहीं लगता। इन दोनों पुरुषों के एक वचन के लिए पहले बँगला में 'मुइ', 'तुइ' कहते थे और आज भी ये कभी-कभी सुनाई देते हैं; पर बिहारी बोलियों में 'मैं' और 'तू' का सर्वथा अभाव है। हां, भोजपुरी में एक शब्द महत्व का मध्यम पुरुष के आदरके लिए व्यवहृत होता है। यह है 'रउरा' या 'रौआं'। इसमें प्रत्यय लगाकर भी काम लेते हैं। तुलसी-कृत रामायण में यह रूपान्तर से बहुत प्रयुक्त हुआ है। हमने अब तक शब्दों वा उनके रूपों की व्युत्पत्ति बताने का प्रयास नहीं किया है; पर यहां कुछ करना ही पड़ेगा। 'राव' से 'राउ' बना और इसमें सम्बन्धसूचक

प्रत्यय 'र' लगाने से 'राउर', जिसका अर्थ राव वा राजा के ढँगपर 'आपका' वैसे ही हो गया, जैसे बिहार में आपकी जगह 'सरकार' बोला जाने लगा। परन्तु भोजपुर में 'रउरा' और 'रौआं' दोनों आपके अर्थमें ही प्रचलित हैं। मिथिला में इसकी जगह 'आहाँ' बोलते हैं। मागधी में कोई विशेष शब्द इसके लिए हैं या नहीं, यह हम नहीं जानते। भोजपुरी के इस 'रौआं' शब्द ने ही कलकत्ते में भोजपुरी महल्ले को अथवा दूकानदारों वा कोठी-वालों के निवासको 'रौआं पट्टी' प्रसिद्ध कर रखा है।

इस लेख का उद्देश्य किसी भाषा या बोली का व्याकरण लिखना वा बताना नहीं है; इसलिए इसमें व्याकरण की जो चर्चा प्रसंगवश होती है, उसका कारण एक का दूसरी से प्रभेद दिखाना है। मागधी प्राकृत में कर्मणि प्रयोग नहीं होता, इसलिए बिहारी बोलियों में भी इसका अभाव है। यही नहीं, जो बोली इसके संसर्ग में आई, उसमें भी यह नहीं मिला, जैसे—अवध के कुछ जिलों की बोली। 'हमने किया' बैसवाड़े में तो 'हम कीन' हो गया; पर उत्तर में सीतापुर-लखीमपुर में इसकी जगह बोलते हैं 'हम कियन' वा 'किहेन' इसी प्रकार 'जानेन', 'खायन', पियन' आदि समझिए। भोजपुरी, मागधी और मैथिली बोलियों में भी कर्मणि प्रयोग के बदले कर्त्तरि प्रयोग ही प्रचलित है।

अब थोड़ा-सा मागधी और मैथिली बोलियों का विचार देखिए। जहाँ भोजपुरी में 'गयल' होता है, वहाँ मागधी में 'गयलत' वा 'गयलथु' होता है। इसी प्रकार पटने के पार हाजीपुर में

'है' की जगह 'खे' कहते हैं, जैसे—'हमनीके तो लूर नहिंखे'। यही 'खे' मिथिलामें 'छे' हो जाता है और बँगला में तो 'छे' ही 'है' का प्रतिनिधित्व करता है। मिथिला में 'क्या करते हो' की जगह 'की करिछ' आगे चलकर बंगाल में 'की करि छ' वा 'की कोच्छो' बन जाता है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि 'अ' का उच्चारण भोजपुरी में दो प्रकार का होता है—एक तो शुद्ध 'अ' और दूसरा गोल अर्थात् 'अ' और 'ओ' के बीच में, जो बंगाल में पहुँच कर प्रायः 'ओ' ही बन जाता है। इसीलिए भोजपुरी में जहाँ बोलते हैं—'रौआँ का करत आनी' वहाँ बंगला में कहते हैं—'आपनी की करितेछेन'। इसमें 'करिते' 'कोरिते' उच्चारित होता है। यही हाल 'गयल' 'भयल' आदि का भी है, जो मिथिला में 'गैल' 'भेल' होकर बंगाल में 'गैलो' भैलो' बन जाते हैं। बंगला में 'भैलो' का दूसरा रूप 'हल' भी है, जो 'होलो' बोला जाता है।

अम्बिका प्रसाद द्विवेदी

राधा कृष्ण प्र

[८]

साहित्य में क्लिष्टता

(श्री सियाराम शरण गुप्त)

साहित्य में प्रसाद गुण की सराहना के मूल में क्लिष्टता का विरोध पाया जाता है। जहाँ किसी तरह की प्रशंसा है, वहीं किसी न किसी तरह की निन्दा भी होगी। निन्दा में एक दुर्गुण है; वह आग की तरह झपटकर आगे बढ़ जाती है, प्रकाश की तरह निज के क्षेत्र में प्रदीपित नहीं रहना चाहती। क्लिष्टता के विषय में ऐसा ही हुआ है। जहाँ वह उचित स्थान पर है, वहाँ भी वह आज सहन नहीं की जा सकती।

सरलता की चाहना अस्वाभाविक नहीं है। प्रारम्भ से ही मनुष्य की प्रवृत्ति यह रही है कि उसका कार्य सरलता से हो। हथियार उसने इसीलिए बनाये कि आखेट की कठिनाई दूर हो जाय। खेत में उसने अन्न के बीज इसीलिए फेंके कि उसका आहार सुगम हो। घर उसने इसीलिये खड़ा किया कि उसे सरदी, गरमी और वर्षा का कष्ट न उठाना पड़े। सब तरह की सरलता पाने के लिये, न जाने उसने कितने कष्ट अब तक झेले हैं।

आदिम युग से उसका वह प्रयत्न बराबर चला जा रहा है। इस के लिये वह कितनी क्लिष्टता के बीच में होकर जा रहा है, इसका हिसाब नहीं। यह देख देख कर कभी कभी ऐसा भी लगता है कि क्लिष्टता ही कहीं उसका ध्येय न हो!

यह हो कैसे सकता है? पथ पर हम चलते हैं, इसलिये वही सब कुछ नहीं हो सकता। वह तो साधन है। बात यह है कि आगे की विश्रामशाला में पहुँचने के लिये ही हम लम्बी-लम्बी घाटियाँ पार करते हैं, बड़ी-बड़ी नदियाँ तैर जाते हैं और अथाह और विस्तीर्ण समुद्रों को देखकर भी भयभीत नहीं होते।

संसार में ऐसे भी कुछ लोग हैं जो पथ की क्लिष्टता देख कर डर जाते हैं। ऐसे जन बच्चों की जाति के हैं। यह चाहते हैं कि कोई गोद में लेकर सुलाता हुआ ही उन्हें ठीक स्थान पर पहुँचा दे।

किन्तु इस तरह पथ की आवश्यकता नष्ट नहीं होती। पथ क्लिष्ट है, इसी कारण घर भी सुखद, सरल और चाहने योग्य हो सका है। संसार के जितने पथ हैं, यदि वे सब के सब किसी उपाय से, किसी मन्त्र-बल से, घर ही घर हो जाएँ, तब?—जरा हम कल्पना करें, तब क्या हो? उस समय हमारे घर इतने बड़े जेलखाने हो उठेंगे कि वहाँ से छूट कर भाग बचने का उपाय नहीं रहेगा। वहाँ के सुख की सेज उस समय कांटों की हो उठेगी।

साहित्य के सम्बन्ध में आज कल कुछ ऐसा ही चाहा जा

रहा है। हम उसका आनन्द तो लेना चाहते हैं, पर लेना ही लेना चाहते हैं; कुछ देने के लिए तैयार नहीं हैं। लेने के लिए देना पहली शर्त है। इसे पूरा किये बिना जो कुछ मिलता है, वह 'प्राप्ति' नहीं, उसे 'भिक्षा' कहते हैं।

साहित्य के दरबार में हम भाषा के मार्ग से पहुँचते हैं। मार्ग में कुछ न कुछ कष्ट होगा ही। बचने का उपाय ही क्या? उपाय यही है कि चला जाय। जो चलना चाहते नहीं और कहते यह हैं कि दरबार सार्वजनिक नहीं, चलने वालों के ही लिये है; वे किसी तरह नहीं समझेंगे। उनसे निबटने के लिये यही कह देना बस होगा कि आप ठीक कहते हैं।

दरबार सार्वजनिक है; पर पथ उनके लिये है, जो उस पर चल सकते हैं। भाषा और साहित्य का अन्तर वही है, जो पथ और दरबार का है। जिस तरह एक सीमा पर पहुँच कर पथ ही दरबार हो जाता है, उसी तरह एक जगह भाषा ही साहित्य बन जाती है।

भाषा और साहित्य का यह सम्बन्ध इतना गहरा है कि कभी कभी भ्रम हो जाता है। एक दूसरे को हम ठीक से समझ नहीं पाते। किसी भाषा में 'किन्तु' की जगह 'मगर' अथवा 'मगर' की जगह 'किन्तु' देख कर ही हम यह कहने लगते हैं कि यह साहित्य सबके लिये नहीं है, क्योंकि यह दुरूह है।

यह वैसी ही हास्यास्पद बात हुई, जैसी कि मूर्ति देख कर हम उसे खोटा पत्थर समझ लें। कहें कि कौन था, जिसने इस तरह

बिगाड़ डाला है ? इसमें कहीं ऊँचाई है और कहीं निचाई; और कहीं छोटी-छोटी रेखाएँ, साफ सपाटपन तो इस में एक जगह भी नहीं दिखाई देता। यह न हमारे लेटने के काम आ सकता है और न बैठने के ही।

साहित्य की दुरूहता बहुत कुछ हमारी इसी तरह की है। पत्थर को हम समझ लेते हैं। इसमें हमें श्रम नहीं पड़ता। देखा और तुरन्त ध्यान में आगया कि इससे हम अपने शत्रु का सिर चकनाचूर कर सकते हैं और दूसरा यह हमारे नमक-मिर्च का चूरा करने के उपयुक्त है। पत्थर के साहित्य का यह अंश इतना स्पष्ट है कि जंगली आदमी को भी इसे समझने के लिये कष्ट नहीं करना पड़ा। इस सरलता के लिए पत्थर के निर्माता के प्रति उसके मन में कृतज्ञता का भाव उठा होगा।

अपने प्रारम्भ में भाषा इसी पत्थर की भांति सुबोध थी। खाने-पीने और उठने-बैठने के काम में उसने सहायता पहुँचाई और उसका काम पूरा हुआ।

यह उसका बचपन था। बचपन की आवश्यकताएँ थोड़ी होती हैं। इसीसे थोड़े शब्दों में ही उस समय काम निकल जाता है। कभी अधिक की आवश्यकता होती भी है, तो रोने में, चिल्लाने में, काट खाने में, और बहुत हुआ, तो हँस उठने में हम इसकी पूर्ति कर लेते हैं।

बचपन किसी का रहता नहीं है। उसकी सरलता के लिये हम कितना ही विलाप क्यों न करें, आगे के दुरूह पथ में जाकर

वह कहां जा छिपा है, इसका पता तक हमें नहीं मिलता। एक बात है। वह चला जाता है, इस लिए उसके प्रति हमारा आकर्षण इतना अधिक है। यदि वह निरन्तर हमारे पास बना रहता, तो हम जानें कितना उसे कोसते। हमारे मित्रों में अनेक तरुण अब भी ऐसे हैं जिनके लिये कहा जाता है कि उनका बचपन, अर्थात् उनकी मूर्खता, अब तक गई नहीं। इसके लिए उन्हें अपने बड़ों से कितना भला-बुरा सुनना पड़ता है, इसकी चर्चा रोचक न होगी।

क्या भाषा का बचपन सदा एक रस बना रहता? चिरकुमारी या चिर विधवा के प्रति हम श्रद्धा या अनुकम्पा का उच्च भाव रख सकते हैं। पर यह होना हमसे कठिन था कि जीवन भर किसी बालिका को गोद में दबाए हुए उसे चूमते-पुचकारते रहते विशेष कर ऐसी हालत में और भी, जबकि वह गूँगी हो। ऐसी भाषा हमारे किस काम आती? जीवन के जिस पथ पर हम आगे बढ़ते हैं उसके लिए माता अपेक्षित हो सकती है,—हमें आशीर्वाद करने के लिए। बहिन चाही जा सकती है,—हमें हमारे संकट में रक्षा सूत्र बांधने के लिए। और हाँ, प्रेयसी, वह आवश्यक हो सकती है,—हमें अपना पौरुष प्रदीप्त करने के लिए। उस अविकसित बोली के द्वारा इन में से हमारी किस आकांक्षा की पूर्ति होती? किसी की भी तो नहीं। इसलिए उसका विकास हमारे साथ साथ होना उचित ही था। नहीं तो उसे भी हम अपने बचपन के गुड्डे-गुड़ियों के साथ या तो तोड़-मरोड़

डालते या किसी ऐसे सुरक्षित ठिकाने रख छोड़ते; जहाँ के ढेर में से हमीं उसे कभी खोज न पाते।

आदमी जंगली से बदलकर हो गया है मनुष्य, भाषा बोली से बदलकर हो गई है साहित्य। यह ठीक ही हुआ है। भले ही इस कारण दोनों की पहली सरलता मिट गई हो। भले ही इस कारण दोनों को दुरूह होना पड़ा हो।

जीवन को दुरूह की ओर अग्रसर होना अप्राकृतिक नहीं। सरलता उसकी इसी में है। पानी का सोता फूटते ही टेढ़ा-मेढ़ा बहने लगता है। इसके लिए उसे मूर्खता का दोषी नहीं करार दिया जा सकता। जिस पथ से वह चलता है, उसकी अपेक्षा उसके लिए सीधा और कौन पथ होगा? आगे वह किसी नदी में जाकर गोता खा जाता है, इसके लिए भी उसकी निन्दा नहीं की जा सकती। वह तो किसी अगम-अथाह का यात्री है। नदी से नद में और नद से किसी क्षार जल-राशि में ही जाना उसका ध्येय है।

जहाँ प्राण का उच्छ्वास है वहीं ऐसा दिखाई देगा। साहित्य मनुष्य का बनाया है, फिर भी यह निर्जीव होने के लिए नहीं बना था। गणेश जी के जन्म के सम्बन्ध में एक कथा है। पार्वती माता ने मिट्टी का एक पुतला बनाया और अपनी उँगली चीर कर उसका अमृत उसे पिला दिया। यही गणपति हमारे वाङ्मय का विघ्नविनाशन देवता है। साहित्य की सृष्टि भी ठीक इसी प्रकार हुई है। मिट्टी के किसी पुतले को अपना रक्त दान करके

मनुष्य ने उसे लौकिक से अलौकिक कर दिया है। उसके प्राणोच्छ्वास का कहना ही क्या? अबाध होकर वह स्वतन्त्र है। इसी कारण वह अपने बनाने वाले से भी ऊँचा उठा दिखाई देता है। पार्वती के विवाह में गणेश पूजन की बात कही जाती है, उसका आशय भी यही है। वह यही प्रगट करने के लिए है कि व्यक्ति स्वयं अपने में बड़ा नहीं, बड़ी है उसकी कृति।

मनुष्य बड़ा होना चाहता था, एक से बहु होना चाहता था, इसी की पूर्ति के लिए उसने भाषा का निर्माण किया। पर बड़े होने की कुछ सीमा भी है? सीमा तभी तक है, जब तक कि नीचे की धरती है। ऊपर आकाश में उठते ही सीमा का बन्धन टूट जाता है। भाषा तब तक धरती पर थी, जब केवल यह बता देना उसका काम था कि यह पत्थर है। पत्थर की उपयोगिता जानकर मनुष्य के मन में पत्थर बनाने वाले के प्रति आनन्द का, कृतज्ञता का भाव उठा। यह असीम था। यह इतना व्यापक था कि किसी एक जगह पकड़ा नहीं जा सका। परिमित शब्द जैसे उसे छू तक नहीं सके। पर वह रुकता कैसे? उसके मूल में आनन्द जो था, कृतज्ञता जो थी। इसीलिए वह अजस्र-धाराओं में एक साथ फूट पड़ा। भाषा इसी जगह साहित्य का रूप धारण करती है। इसी जगह एक छोटा सोता अनन्त दूसरे सोतों से मिलकर एक बड़ा नद होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा में से साहित्य का उद्भव उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार बचपन में से यौवन का। यौवन भी कम खिलाड़ी नहीं है। अन्तर इतना कि बचपन के

खिलौने उसे रुचते नहीं हैं। हाथ के झुनझुने की छोटी झनकार ही उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाती। वह कुछ अधिक चाहता है। इसीलिए वह अपने स्वर को घुमा-फिराकर, चौड़े से सकड़े में आकर और सकड़े से चौड़े में जाकर, पहले तो अपने आप कठिनता उत्पन्न करता है और फिर उसी कठिनता से सङ्गीत का नया ही रस लेता है। और इसी तरह अपने घर की बगीची में अपने स्वजनों से रक्षित होकर चलने में अपनी दौड़-फिर की प्यास भी वह नहीं बुझा पाता। वहाँ उसे ऐसा लगता है, जैसे अपने पैरों पर चल ही न रहा हो। पैरों का यह अपमान वह सह नहीं सकता। इसीलिए वह अकेला, अरक्षित ही चल पड़ता है, किसी बहुत दूर के लिए। वहां के लिए, जहाँ चारों ओर भयंकर गहनता है। जहाँ स्वजनों की छाया नहीं है। जहाँ माता की ममता नहीं है। जहां दूर तक दुर्गम अरण्य फैला हुआ है। वह जानता है, इस सबके उस पार वह उस विराट् नदी के दर्शन करेगा, जिसका मधुर और गम्भीर घोष उसने कल्पना की सहायता से यहीं पर सुन लिया है। उसने उसे देखा नहीं है, पर वह जानता है कि वह बहुत दूर नहीं है। दूर भी हो तो उसके पैरों में बल है और मन में शुद्ध संकल्प। सारी कठिनाइयों को रूँदते हुए, जिस समय वह वहां पहुँच कर अवगाहन कर लेगा, उसी समय मार्ग की कलुषता और श्रान्ति एक साथ धुल जायगी। उस समय उसे जान पड़ेगा कि बीच की सारी कठिनाई यहां के लिए सरलता का ही रूपान्तर थी।

[९]

साहित्य में हास्य-रस

(प्रो० जगन्नाथ मिश्र)

मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो हँस सकता है। अन्य प्राणी हंस नहीं सकते। हास्य द्वारा आनन्द-प्रकाश की क्षमता मनुष्य के प्रति विधाता की एक बहुत बड़ी देन है। इसीसे सृष्टिके आदिकालसे ही मनुष्य हँसता आरहा है और आगे भी हँसता रहेगा। हास्य-कौतुक में कुछ ऐसा जादू है, जिससे मनुष्यके मनमें निरानन्दका अंधकार दूर हो जाता है। हास्यरस का यदि जीवनमें स्थान न हो, तो मनुष्य के लिए जीवन धारण करने में कोई स्वाद ही नहीं रह जायगा। मनुष्य की जीवन-रूपी मरुभूमि में हास्य ही मरूद्यान है। शोक, दुःख, नैराश्य एवं अवसाद से जब मनुष्यका मन भाराक्रान्त हो उठता है, उसी समय वह हास्य-रसका प्रयोजन अनुभव करता है। जो मनुष्य घोर दुःख एवं विपदाओं के बीच भी दिल खोलकर हँस सकता है, वही सबसे बढ़कर सुखी है। सदा हास्यपरायण व्यक्ति दुःखों के बीच भी अपनी सहज-स्वाभाविक वृत्ति नहीं छोड़ता। प्राचीन काल के राजा लोग हास्य-रस का मूल्य

जानते थे। उनके दरबारों में रसिक लोगों का सम्मान होता था। मनुष्य स्वयं सदा हँस नहीं सकता। अगर कोई मनुष्य हमेशा हंसता ही रहे, तो लोग उसे पागल कहेंगे। इसलिए मनुष्य जब स्वयँ हँस नहीं सकता, तो वह मानसिक ऍव शारीरिक क्लांति दूर करनेके लिए कृत्रिम उपायों से हास्यकी सृष्टि करता है। राजा लोग स्वयँ नहीं हँस सकते थे, तभी तो वे अपने दरबारोंमें विदूषकों या भाँडों को हँसाने के लिए रखा करते थे। शक्तिशाली इंजन के लिए जिस प्रकार वायु-निःसरण-द्वार (Safety-valve) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मनुष्यके देह-यन्त्रके लिए भी हास्य की आवश्यकता है। शरीरशास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि जैनधर्मके नियमानुसार हास्य की सार्थकता है। प्राचीन पंडितोंने हास्यकी आवश्यकता को स्वीकार किया है। ग्रीक पुराणोंमें वेनस को हास्य की देवीके रूपमें माना गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य हँसता क्यों है और उसके हास्यके मूलमें कौन-सी प्रवृत्ति काम करती है? इस प्रश्न के उत्तर में मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि आकस्मिक एवँ अनपेक्षित मनश्चांचल्य, जिससे शारीरिक अथवा मानसिक वेदना की अनुभूति किंवा अनुकम्पा का संचार नहीं होता, ही मनुष्यकी हास्य-प्रवृत्ति का मूल कारण है। जिस समय मनुष्यका चित्त हलका रहता है, आकस्मिक, अनपेक्षित अथवा शारीरिक या मानसिक वेदना, दुःख, आशंका या अनुकम्पाका संचार उसके मनमें नहीं होता और इस अवस्था में जो मनश्चांचल्य संघटित होता है, वही हमारे

लिए हास्य का उपादान जुटाता है।

मान लीजिए, कोई प्रौढ़-वयस्क व्यक्ति जल्दी से किसी कामके लिए सड़क पर जा रहा है। तेजीसे कदम बढ़ाते हुए अचानक उसका पाँव फिसल गया और वह धड़ाम से गिर पड़ा, तो इससे हमें हँसी आती है। क्यों? इसलिए कि एक वयस्क व्यक्तिके धीर-गम्भीर भावसे चलनेके साथ उसके पांव का फिसलना, असंगत है और साथ ही अनपेक्षित भी। किन्तु एक बच्चा, जिसे अभी ठीकसे चलना नहीं आया है, यदि फिसलकर गिर पड़ता है, तो हमें हँसी नहीं आती; क्योंकि अभी वह चलने में अभ्यस्त नहीं हुआ है और न उसमें उतनी सतर्कता ही आई है। इसके सिवा बच्चेके प्रति हमारी स्वाभाविक अनुकम्पा भी होती है। मगर वही प्रौढ़ व्यक्ति यदि ट्रेनसे गिर जाय, तो हमें हँसी नहीं आयगी। किसीकी विलक्षण वेशभूषा देखकर जो हम हँसने लगते हैं, इसका कारण यह है कि मनुष्य की वेशभूषा के सम्बन्धमें हमारे मनमें जो धारणा जमी हुई है, उस आदर्श धारणा के साथ उस व्यक्तिकी वेशभूषा का कोई सामंजस्य नहीं है।

जिन अवस्थाओं को हम हास्यजनक कहते हैं, उनमें कौनसी ऐसी विशेषता होती है, जिसके कारण वे 'हास्योद्दीपक' कही जाती हैं, इस विषय को लेकर मनोवैज्ञानिकों में आज भी गवेषणाएँ चल रही हैं। आचार्य फ्रायडके मतसे जो सब असामाजिक वृत्तियां हमारे मनके अवचेतन प्रदेश में अवरुद्ध होकर रहती है, हास्य-कौतुकमें वे ही सद्मरूपमें प्रकाशित होती हैं। केलेके छिलके

पर पाँव पड़नेसे फिसलकर गिर जानेवाले व्यक्तिके प्रति हमारे मनके किसी गोपन प्रदेशमें पहलेसे ही विद्वेष रहता है, इसीलिए फिसलकर गिरने की घटना हमें कौतूहल प्रतीत होती है।

हास्सके मतसे किसी व्यक्तिकी दैहिक, मानसिक या सामाजिक अवस्थामें जब अवनति होती है, तभी हम कौतुकका बोध करते हैं। व्यंग्य एवं विद्रूप-जनित हास्य के सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। प्राचीन कालके इतिहाससे यह भी पता चलता है कि आदिकालमें मनुष्य किसी व्यक्तिकी शारीरिक यन्त्रणा या पीड़ाको देखकर सबसे अधिक कौतुकका बोध करता था। किसी आहत व्यक्तिको पीड़ासे छटपटाते देखकर लोग जोरसे हँसते थे। इस प्रकार निष्ठुर हास्य-कौतुकके कितने ही दृष्टान्त इतिहास में पाए जाते हैं। जीव-जन्तुओं को कष्ट देकर आनन्द प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति तो बहुत-से लोगों में देखी जाती है।

मनुष्य की दुर्गति भी अनेक समय में हमारे लिए कौतुकप्रद हो जाती है। कुबड़े या काने मनुष्य को देखकर और किसी व्यक्ति को तुतलाते या अबोध-जैसी बातें करते देख हम हँस पड़ते हैं। पागल व्यक्ति के आचरण भी हमारे लिए हँसी की खुराक जुटाते हैं। कोई शौकीन व्यक्ति खूब सज धज कर बाहर घूमने निकला। सड़क के फुटपाथ से होकर वह जा रहा है। अकस्मात ऊपर से पान की पीक फेंक कर किसी ने उसके स्वच्छ सुन्दर वस्त्रों को खराब कर डाला। इस प्रकार की घटनाएं भी हमारे लिए कम हास्य-जनक नहीं होतीं। प्रचलित प्रथा एवं कार्य

कारण के सम्बन्ध में अभाव देखकर, भाषा एवं व्याकरण-संबन्धी त्रुटियों तथा बोलने, लिखने या छापे की भूलों को देखकर जो हम कौतुक का बोध करते हैं, इसका कारण है सामंजस्य-हीनता या विसदृशता।

कुछ लोगों का अनुमान है कि हास्य-रस का जन्म हमारे मन की हिंस्र प्रवृत्ति से हुआ है। डारविन और हरबर्ट स्पेन्सर के मत से हास्य का दैहिक प्रकाश हिंस्र जन्तुओं के दन्त-विकास से क्रमिक विवर्त्तन के फल स्वरूप हुआ है। आचार्य फ्रायड के इस मत को भी हम आंशिक रूप में मान ले सकते हैं कि हमारी असामाजिक हिंस्र प्रवृत्तियों को अबाध रूप में चरितार्थ होने का मौक़ा नहीं मिलता और हमें निर्विचार उनका दमन करना पड़ता है जिससे हास्य-कौतुक की सृष्टि होती है। मानव-मन की इन आदिम पशु-प्रवृत्तियों को यदि चरितार्थ होने का सुयोग मिलता, तो अवश्य ही मनुष्य का वास-स्थान यह पृथ्वी रसातल को चली जाती। इसीलिए इनमें अनेक प्रवृत्तियों का उन्नयन हो जाता है और उनसे हास्य-रस की सृष्टि होती है। व्यंग्य-विद्रूप में हमारे मन के इसी हिंस्र भाव का आभास मिलता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी प्रकार के हास्य-कौतुक में मनुष्य की पशु-प्रवृत्ति का ही परिचय मिलता है। बहुत-से निर्मल एवं निर्दोष हास्य-कौतुक में पशु-प्रवृत्ति का अणुमात्र भी आभास नहीं पाया जाता। इस प्रकार का हास्य-रस जिस व्यक्ति में जितना ही अधिक होगा, उसमें हिंस्र प्रवृत्ति उतनी ही कम होगी।

विशुद्ध हास्य-कौतुक के प्रभाव से मनुष्य के मन की पाशव प्रवृत्तियों का ह्रास भी अनेकाशं में हो सकता है। किन्तु रसिक व्यक्तियों को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि उनका कौतुक पाठक या श्रोता-वर्ग के लिए सहज ही बोधगम्य एवं चित्ताकर्षक हो। लेख या कथन में हास्य का जो सूक्ष्म आभास या इंगत होता है, वह यदि सहज ही बोधगम्य न हो, तो हास्य-रस उपभोग्य नहीं हो सकता।

मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में जब हास्य की इतनी उपयोगिता है, तो साहित्य में हास्य रस का स्थान क्यों नहीं होगा? आखिर साहित्य का उपादान भी तो मानव-जीवन और मानव-मन ही है। मनुष्य को आनन्द देने के लिए, उसकी रसानुभूति को जाग्रत करनेके लिए ही जब साहित्यकी सृष्टि होती है, तो फिर मनुष्य साहित्यके द्वारा यदि हँसनेकी चेष्टा करे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसीलिए साहित्य का हास्य-रस कृत्रिम होने पर भी अनेक समय हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। पहले राजाओं के दरबारों में हँसने और हँसाने के लिए विदूषक या भाँड रहा करते थे। उनका कुछ स्थान आज साहित्य ने और बाकी स्थान सिनेमा और थियेटर ने ग्रहण कर लिया है। यह सच है कि साहित्य में जो हास्य-रस पाया जाता है, वह थोड़े से शिक्षित लोगों के लिए ही उपभोग्य होता है, फिर भी समाज में उसका स्थान है यह तो मानना ही पड़ेगा।

संसार की सभी जातियों के साहित्यमें हास्य-रस का अस्तित्व

पाया जाता है। अंगरेजी-साहित्य में चासर, शेक्सपियर, डिकेन्स, शेलकर्क, वर्तमान समय के बर्नार्डशा तक सभी ने अपने साहित्य में हास्य-रस की सृष्टि की है। स्पेन के साहित्य में दानकूइकूसट और अमरीकन साहित्य में मार्क टवेन तो इस क्षेत्र में अमर ही माने जाते हैं। प्राचीन संस्कृत, ग्रीक और लैटिन साहित्य में हास्य-रस-प्रधान रचना विरल ही पाई जाती है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि उस समय प्रत्येक मनुष्य की जीवन-यात्रा सरल, शान्तिपूर्ण एवं आनन्दमय थी। उनके जीवन में हास्य का अभाव नहीं था। इसीलिए साहित्य द्वारा कृत्रिम हास्य-रस सृष्टि का उन्हें प्रयोजन नहीं था और हास्यरस-प्रधान साहित्य की विशेष सृष्टि नहीं हुई। किन्तु आधुनिक काल की जटिलताओं ने हमारे जीवन को दुर्वह बना दिया है। प्राचीन काल का वह आनन्द-स्रोत आज सबके प्राणों को सरसित नहीं करता। अतएव जिनके जीवन में हास्य है, उनसे दूसरे लोग हास्यरस-सृष्टि की आशा करते हैं।

प्राचीन साहित्यिकों ने, हास्य-रस का एक विशिष्ट स्थान है, इस बात को स्वीकार किया है। आलंकारिकों ने नवरस में हास्य-रस को भी स्थान दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने हास्य-रस के दैहिक स्वरूप पर भी विचार किया है और दन्त-विकास की मात्रा को लेकर हास्य-रस का श्रेणी-विभाग किया है। इस प्रकार हास्य-रस के ६ भेद किए हैं—अर्थात् स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित। जिस हँसी में दशन-

पंक्ति दिखाई भी नहीं देती, वह स्मित है; कुछ-कुछ दाँत दिखाई पड़ें, वह हसित; शब्द के साथ दाँत दिखाई पड़ने से विहसित; हँसते समय नासिका का स्फुरित और नेत्रों का कुञ्चित होना अवहसित; हँसते-हँसते आँखों में आंसू भर आना और रो पड़ना अपहसित; और हाथों से ताल देते हुए अंगविक्षेप पूर्वक हँसना अतिहसित है।

लैटिन साहित्य में होरेस की विद्रूपात्मक रचनावली की काफ़ी प्रसिद्धि है। प्लेटो के कथोपकथन में भी एक प्रकार का श्लेष देखा जाता है, जिसे समालोचकों ने 'सुकरात का विद्रूप' नाम दिया है। मध्य-युग के संस्कृत नाटकों में हास्य-रस का एक विशेष स्थान है। शेक्सपियर का हास्य-रसात्मक चरित्र फलस्टाफ़ भी काफ़ी प्रसिद्ध है। हास्य-रस का स्थान यदि साहित्य में नहीं होता, तो अंगरेज आज डिकेन्स और थैकरे को लेकर इतना गर्व नहीं करते। रवीन्द्रनाथ के हास्य-रस में जो एक प्रकार का आभिजात्य एवं सूक्ष्म रसानुभूति पाई जाती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'चिर कुमार सभा', 'वैकुण्ठ का खाता', 'हास्य-कौतुक', 'व्यंग्य-कौतुक' आदि रचनाओं में जो चुटकी पाई जाती है, वह बड़ी ही चमत्कारपूर्ण है। पर केवल थोड़े-से उच्च शिक्षित पाठक ही इसका उपभोग कर सकते हैं।

अंगरेज़ी में हास्य-रस के लिए साधारणतः ह्यूमर (Humour) शब्द का व्यवहार किया जाता है। यह शब्द इतना व्यापक है कि इसके अन्दर हास्य के विभिन्न रूपों का समावेश हो जाता

है। साहित्य में चापल्य (Fun) उपहास (Jest या Joke), परिहास (Wit) विद्रूप (Irony और Sarcasm) व्यंग्योक्ति एवं व्यंग्य (Satire) सब 'ह्यूमर' के अन्दर आ जाते हैं।

कौतुक में बुद्धि का कोई चमत्कार नहीं होता, इसलिए यह बुद्धिग्राह्य नहीं होता। इसके अन्दर कोई छिपा हुआ उद्देश्य नहीं होने से इसमें अर्थ-गाम्भीर्य नहीं होता। अन्तर के आनन्द का स्वतःस्फूर्त प्रकाश इसमें हम पाते हैं। यह हमारे लिए अत्यन्त लघु एवं सरल हास्य-रस की खुराक जुटाता है।

परिहास केवल बुद्धि द्वारा ही ग्राह्य हो सकता है। इस प्रकार बुद्धिग्राह्य होने पर ही इसकी रसानुभूति हमें हो सकती है। परिहास कोई शब्द-विशेष या शब्दों के समूह पर निर्भर करता है। किसी परिचित शब्द के अर्थ या भाव को इस प्रकार अपरिचित रूप में रखना, जिससे आकस्मिक या अनपेक्षित भाव की अवतारण हो, Wit या परिहास कहा जाता है। श्लेष भी परिहास के अन्दर ही आ जाता है; किन्तु यदि उसमें दूसरे के ऊपर दोषारोपण करने या क्षति पहुँचाने का उद्देश्य हो तो वह परिहास नहीं रह जायगा। सूरदास का—

'निर्गुण कौन देश को वासी ?
मधुकर, हँसि समुझाए सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।'

पद एक साथ ही चापल्य और परिहास या Wit का सुन्दर उदाहरण है। तुलसी का निम्न-लिखित कवित्त—

'बिंध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा, बिनु नारि दुखारे;
गौतम-तीय, तुलसी सो कथा सुनि, भे मुनि-वृन्द सुखारे;

ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी, परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे;
किन्ही भली, रघुनायकजू करुना करि कानन को पगुधारे ॥'

सुन्दर, सरल एवं शिष्ट हास्य-कौतुक का अनुपम दृष्टान्त है।

विद्रूप तथा व्यंग्य की साधारण विशेषता यह होती है कि इसमें जिस व्यक्ति, वस्तु या भाव को लेकर व्यंग्य-विद्रूप किया जाता है, उसे जनता की दृष्टि में हीन या उपहासास्पद सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। क्षति या अनिष्ट साधन का उद्देश्य भी इसमें हो सकता है। चापल्य, परिहास या उपहास में इस प्रकार का कोई उद्देश्य नहीं होता।

किसी वाक्य का अर्थ या भाव प्रत्यक्ष रूप में तो ठीक मालूम हो; किन्तु वक्ता या लेखक की वाङ्-भंगी या रचना-भंगी इस रूप में हो कि उसका अर्थ अप्रिय व्यंजित हो तो उसे 'आइरनी' कहते हैं। 'आइरनी' शब्द के उपयुक्त कोई भाषा शब्द नहीं होने से इसे विद्रूप कह सकते हैं; किन्तु विद्रूप और (Irony) सब समय एकार्थवाची नहीं होते।

मुख्य अर्थ या भाव की अपेक्षा उद्दिष्ट गौण अर्थ अधिक स्पष्ट होने से व्यंग्योक्ति कहा जाता है। व्यंग्योक्ति विद्रूप की तरह बुद्धिग्राह्य नहीं होती। व्यंग्य विद्रूप की तरह द्वयर्थक नहीं होता। इसमें अतिशयोक्ति की मात्रा हास्य-रस के और सब भेदों की अपेक्षा अधिक होती है; और जिसका व्यंग्य किया जाता है, उस व्यक्ति, वस्तु या भाव को उपहासास्पद या क्षतिग्रस्त करने का उद्देश्य सहज ही समझ में आ जाता है। व्यंग्यमूलक रचना

किसी व्यक्ति-विशेष या श्रेणी-विशेष को लेकर हो सकती है।

'ह्यूमर' और विद्रूप-व्यंग्यके बीच प्रधान भेद यह है कि जिस व्यक्ति या वस्तुको लेकर हम परिहास या उपहास करते हैं, उसके प्रति हमारी सहानुभूति होती है, किन्तु व्यंग्य या विद्रूपमें ऐसा नहीं होता। 'ह्यूमर' में दृष्टि व्यापक हो जाती है। जिस व्यक्तिका उपहास किया जाता है, उसकी दोष-त्रुटियोंकी तीव्रता तथा उसकी हीनता-तुच्छताकी ओर हमारा ध्यान विशेष नहीं जाता और इन सबसे परे उसके प्रति हमारे मनमें सहानुभूति या अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अंगरेज़ी-साहित्यमें हास्य-प्रधान चरित्रका श्रेष्ठ उदाहरण है डिकेन्स का 'पिकविक'। हिन्दी-साहित्यमें इस प्रकारके हास्य-प्रधान चरित्र विरल ही पाए जाते हैं।

हिन्दीमें हास्य-रसके साहित्यका अभी विकास नहीं हो पाया है। हास्य-रसके लेखकोंकी संख्या भी अभी इनी-गिनी ही है। स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्तने शिवशम्भु शर्माके नाम से 'शिवशम्भुके चिट्ठे' शीर्षक एक लेखमाला बहुत पहले लिखी थी। उसमें व्यंग्य एवं हास्यका अच्छा सम्मिश्रण हुआ है। स्वर्गीय प्रतापनारायण मिश्रकी भी कुछ हास्य-रसात्मक रचनाएँ पाई जाती हैं; पर उनमें कोई ऐसी विशेषता नहीं जिसका उल्लेख किया जा सके। 'तृप्यन्ताम्' या 'हाय! बुढ़ापा तेरे मारे हम तो अब नकुयायं गयन' आदि रचनाओंमें हास्यरसकी विशदता बहुत कम ही देखी जाती है। आधुनिक लेखकोंमें सर्वप्रथम श्री जी० पी० श्रीवास्तवने हास्य-रसको विशेष रूप से अपनी रचनाओं का विषय बनाया। 'लम्बी दाढ़ी'

'विलायती उल्लू', 'लतखोरीलाल' आदि उनकी हास्यरस-विषयक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। उनके उपन्यास 'स्वामी चौखटानन्द' और नाटक 'मरदानी औरत' में भी हास्य-रसका काफी पुट पाया जाता है; पर इन कृतियोंमें उच्चकोटिके 'ह्यूमर' या 'विट' का कोई चमत्कार नहीं पाया जाता। इनमें हास्यका मुख्य आधार लेखककी प्रकाश-भंगी न होकर उनके पात्रोंके अस्वाभाविक एवं बेढंगे कथन या आचरण हैं। हास्य-रसका बहुत स्थूल रूप श्रीवास्तवजी की रचनाओं में हमें मिलता है। फिर भी हिन्दी के इस क्षेत्र को पूर्ण करने में उन्होंने जो प्रारम्भिक प्रयत्न किए हैं, वे अवश्य प्रशंसनीय हैं। श्री अन्नपूर्णानन्द तथा पं० हरिशङ्कर शर्मा निस्सन्देह हास्य-रसके श्रेष्ठ लेखक माने जा सकते हैं। श्री अन्नपूर्णानन्दकी 'महाकवि चच्चा', 'मंगलमोद', 'मेरीहजामत', 'मगन रहु चोला' आदि पुस्तकोंमें हास्य-रसका सुन्दर रूप में निदर्शन हुआ है। श्रीहरिशङ्कर शर्माकी 'चिड़ियाघर' पुस्तकमें उच्चकोटिके हास्य एवं व्यंग्य चमत्कार हम पाते हैं। उनकी भाषा भी हास्य-रसके सर्वथा उपयुक्त होती है। उनका हास्य बड़ा शिष्ट होता है। श्री 'बेढब' बनारसीमें भी हास्य-रसात्मक सृष्टि करनेकी प्रतिभा है। उनकी भाषा में काफी चुहल है। लिखनेका ढंग भी बहुत मनोरंजक एवं विनोदपूर्ण है। श्री गुलाबरायका 'ठलुआ-क्लब' भी शिष्ट हास्यका एक नमूना है। 'विशाल भारत' के भूतपूर्व संयुक्तसम्पादक स्वर्गीय व्रजमोहन वर्मा भी हास्य-रसके एक प्रतिभाशाली लेखक थे। खेद है कि उनकी प्रतिभाका यथेष्ट विकास न होने पाया। हास्यका एक रूप व्यंग्य-

रचना (Parody) भी है। इसमें दूसरे की रचना का अनुकरण पद्यात्मक रूपमें किया जाता है। इस प्रकारकी रचनाओं के मूलमें शुद्ध कौतुक भी हो सकता है या परिहास अथवा व्यंग्य भी। सर्वश्री हरिशङ्कर शर्मा, कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' तथा 'मनोरंजन' ने पैरोडी लिखी हैं। पर उनमें से कुछ ऐसी भी हैं, जिनमें संयमसे काम नहीं लिया गया है।

बँगालामें स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुरके सिवा 'परशुराम' और स्व० रवीन्द्रनाथ मैत्रने हास्य-रसकी श्रेष्ठ रचनाएँ की हैं। रवीन्द्रनाथ की 'चिरकुमार-सभा' और 'बैकुण्ठेर खाता' उच्चकोटिके गम्भीर हास्यकी बहुत ही सुन्दर पुस्तकें हैं। 'परशुराम' की हास्यरसात्मक रचना 'हनुमानेर स्वप्न' भी एक अनुपम कृति है। इनकी एक पुस्तकका अनुवाद 'भेड़ियाधसान' नाम से हिन्दी में हुआ है। स्व० रवीन्द्रनाथ मैत्रकी हास्य-रसकी रचनाएँ किसी भी साहित्यके लिए गौरवकी वस्तु हो सकती हैं। मन्द-मधुर-स्मित हास्यका ऐसा श्रेष्ठ नमूना शायद ही और कहीं मिले। 'त्रिलोचन कविराज' नामसे उनकी एक पुस्तकका हिन्दीमें अनुवाद हो चुका है।

हिन्दीका हास्यरस-साहित्य अभी अन्यान्य सजीव भाषाओंकी तुलना में साधारण ही कहा जायगा। उच्चकोटिकी हास्य, व्यंग्य एवं विद्रूपमूलक रचनाएँ अभी बहुत कम पाई जाती हैं। सभ्यता एवं संस्कृति में परिवर्तन होनेके साथ-साथ हास्य-रसमें भी परिवर्त्तन हुआ है। पहले भी लोग स्थूल या अश्लील, अशिष्ट हास्यसे आनन्दोपभोग कर लिया करते थे; किन्तु साहित्य में

उसका कोई स्थान नहीं था। शिक्षित-भद्र-समाजके लिए अब इस प्रकारके हास्यरस-परिवेशन की आवश्यकता है, जो केवल शिष्ट ही न हो, बल्कि बुद्धिग्राह्य भी हो और साथ ही उसमें स्मित-हास्य की सूक्ष्म रसानुभूति भी हो। दुःख-दैन्य-दुर्दशाग्रस्त भारत-वासियों के जीवन में शोक, विषाद एवं रुदन तो लगे ही हुए हैं, करुण-रसात्मक साहित्य की सृष्टि करके उनके शोक-विषादपूर्ण मनको और भी भाराक्रान्त क्यों बनाया जाय ? समय-समय पर यदि हम कुछ हँस लिया करें, तो इससे जीवन संग्राम में विजयी होनेके लिए कुछ शक्ति-संचय तो अवश्य ही होगा। कारण, हास्य हमारे चित्त को उसकी स्वाभाविक नियन्त्रित गति से कुछ क्षणोंके लिए मुक्त कर देता है, जिसके फल स्वरूप हमारी जीवनी शक्तिको नूतन स्फूर्ति मिलती है। हँसी केवल मनकी क्लान्तिको ही दूर नहीं करती, वरन देहकी क्लान्तिको भी दूर करती है और शरीरको कार्य-क्षम बनाती है। इस सम्बन्ध में डब्लू० जे क्रोमी ने लिखा है:—

"हँसना एक ऐसी कसरत है, जो हमारा हाज़मा सुधारती है। अगर मोटा होना हो, तो खूब हँसिए। प्रसन्न-चित्त औषधकी तरह लाभदायक है। अतः भोजनके बाद प्रतिदिन थोड़ा-बहुत हँसना अत्यावश्यक है।" इसप्रकार हास्य हमारे शरीर और मन दोनोंके लिए एक न्यामत है। एतदर्थ हास्यरसात्मक साहित्य की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट होना अत्यावश्यक है।

———

[१७]

नवीन काव्य-शैली

(नन्ददुलारे वाजपेयी)

हिन्दी कविता पिछले दस वर्षों से एक नवीन आरोह की ओर बढ़ रही है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर इसकी गतिविधि का ठीक पता नहीं लगता। हम समझ नहीं पाते कि नयी कविता का स्वर-ताल क्या है, उसका 'सम' कहाँ है? इतनी विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ सुन पड़ रही हैं कि मध्यवर्ती रागिनी का परिचय पाना कठिन हो गया है। कभी हम पुरानी शैली के किसी प्रख्यात कवि को नया अभ्यास करते देख उसे ही नये काव्य का प्रतिनिधि मान लेते हैं, और कभी नयी शैली की किसी उत्तम रचना की भी उपेक्षा कर जाते हैं। नयी कविता का कोई विशिष्ट प्रतिनिधि न होने के कारण इस क्षेत्र में गड़बड़ी फैली हुई है।

थोड़ी सी पैठ रखने वाले व्यक्ति भी यह जानते हैं कि वर्तमान युग की कविता, शैली की दृष्टि से, तीन श्रेणियों में विभाजित है। द्विवेदी काव्य-शैली, छायावादी शैली और आज की नवीन शैली। शब्द प्रयोगों की दृष्टि से, भाषा-परिपाटी की दृष्टि

से, चित्रण शैली की दृष्टि से, काव्य-स्वरूप तथा अनुभूति-प्रकार की दृष्टि से द्विवेदी युग की कविता छायावाद काव्य से अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। कुछ लोगों ने यह समझ रखा है कि द्विवेदी युग के कुछ कवि छायावाद शैली की रचना भी कर चुके हैं। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण जी की मुक्तक रचनाएँ अथवा उनके साकेत के गीत। किन्तु काव्य शैलियों की परख रखने वाले सभी साहित्यिक यह बता सकते हैं कि गुप्तजी की इन रचनाओं का छायावादी काव्यशैली से कोई सम्बन्ध नहीं है। छायावाद का आरम्भ मध्यकालीन रीतिकाल के आत्यन्तिक विरोध में हुआ था। न केवल रचनाशैली में वरन् नवीन जीवन-दृष्टि और उस की भावना-कल्पना में छायावाद के कवियों ने वैयक्तिक अनुभूति को मुख्य-साधन माना था जब कि गुप्त जी के पदों में पौराणिक भावना और संस्कार तथा रीतिबद्ध वर्णन-शैली का प्रभाव विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि दो काव्य-धाराओं के बीच में कुछ ऐसे भी कवि हों जिनका झुकाव दोनों ओर दिखाई पड़े, परन्तु जब युग की काव्य-पद्धति का प्रश्न उठेगा तब ऐसे कवियों की गणना उनके उपयुक्त स्थान पर ही होगी। उन्हें युगधारा का प्रतिनिधि कवि नहीं कहा जायेगा।

द्विवेदी शैली को हम खड़ी बोली की प्रारम्भिक प्रयोगात्मक शैली मान सकते हैं। उस युग का काव्य किसी व्यवस्थित काव्य-स्वरूप के अन्तर्गत नहीं आता। वह एक प्रकार से विशुद्ध काव्य है भी नहीं। उसे हम पद्यबद्ध रचना भी कह सकते हैं। उसमें

काव्य भावना या वस्तु-चित्रण से पृथक् उपदेश योजना का पुट है। मुक्तक पदों में भी निबन्धों के ढंग का सा वस्तुविन्यास पाया जाता है। अनावश्यक इतिवृत्त और काव्य-बाह्य भावना (Sentimentality) का विक्षेप स्थान स्थान पर मिलता है। द्विवेदी जी ने काव्य की भाषा पर अपना वक्तव्य देते हुए यह कहा है कि गद्य और पद्य में एक ही भाषा, एक ही सी शब्दावली, होनी चाहिए। इस वक्तव्य से लक्षित होता है कि काव्य का स्वरूप उस समय इतना अविकसित था कि कविता और गद्य के भाषा-प्रयोग सम्बन्धी अन्तर की ओर भी दृष्टि नहीं जा सकी।

उस युग के श्रेष्ठ कवियों की रचनाशैली पर भी विशुद्ध काव्य-पद्धति के स्थान पर भाषण-पद्धति की छाप देखी जाती है। भावना का अभिव्यञ्जना या भाषा से अभिन्न सम्बन्ध न स्थापित होने के कारण उक्तियों का चमत्कार और मुक्तक-प्रणाली की अन्य विशेषताएँ इस युग की कविता-शैली के साथ लगी रह गई हैं। छन्दों के व्यवहार में या तो संस्कृत छन्दों का प्राधान्य है या हिन्दी के पुराने छन्दों का। अलंकार योजना में भी प्राचीन क्रमागत पद्धति का प्रभाव स्पष्ट है। अधिकतर अलङ्कार पांडित्य-प्रसूत हैं (जैसे रूपक आदि) अथवा उनका सम्बन्ध पद-रचना से है (जैसे विरोधाभास), विशुद्ध कल्पना-अलंकारों की कमी है (जैसे उपमा की)। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसे कवि भी अपने 'प्रियप्रवास' में पवनदूत की योजना करते हैं जो मेघदूत की छाया प्रतिक्रिया है और

मैथिलीशरण जी साकेत के नवम सर्ग में भी ऋतु वर्णन की पुरानी परिपाटी पकड़े रहते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्य्यसमाज की बौद्धिकता की छाप इस युग के सभी कवियों पर किसी न किसी रूप में पड़ी हुई है। उपाध्याय जी के प्रियप्रवास में राधा और कृष्ण का जो स्वरूप अंकित किया गया है वह आर्य्यसमाज द्वारा किये गये पौराणिक और मध्यकालीन कवियों के विवेचन से इतना अधिक प्रभावित है कि उक्त दोनों चरित्रों में एक आदर्शवादी कृत्रिमता स्वाभाविक काव्य-चित्रण में विक्षेप उत्पन्न करती है, यद्यपि भावना तथा अभिव्यंजना की एक सरलता अपना सुन्दर आकर्षण भी रखती है।

बौद्धिक धारणाओं और तर्कवाद की प्रधानता के कारण हार्दिक अनुभूतियों का मार्ग अवरुद्ध हो रहा था। द्विवेदीकालीन इस अवरोध के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई वह छायावादी की काव्य-शैली और भावना धारा में दिखाई पड़ी। भाषा में नयी लाक्षणिकता का आविर्भाव हुआ जो द्विवेदी युग के स्थूल प्रयोगों से बिलकुल भिन्न थी। कुछ समीक्षकों ने इस शब्दावली को ही नये काव्य की विशेषता मान लिया है किन्तु नवीन काव्य-स्वरूप का निर्माण केवल शब्दावली के परिवर्तन से नहीं हो जाता। वह तो काव्यानुभूति और जीवन दृष्टि के परिवर्तन का एक उपलक्षण-मात्र है। केवल शैली के क्षेत्र में परिवर्तन और लाक्षणिकता के लिए लाक्षणिकता का यह युग नहीं था। वैसे काव्य-युग

जिनमें केवल शैली बदलती है, प्रायः रीति वादी होते हैं। अनुभूति और अभिव्यंजना का युगपद् विन्यास ही वास्तविक काव्य विकास का परिचय कराता है। द्विवेदी युग की बौद्धिकता, नीतिमत्ता और उपदेशात्मकता की प्रतिक्रिया एक अपूर्व आध्यात्मिकता और वैयक्तिक वेदना तथा सौंदर्य दृष्टि के रूपों में हुई। प्रकृति और मानव जीवन का सम्बन्ध तथा प्रेम-कल्पना आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचा दी गयी। इस स्वच्छन्दतावादी काव्य शैली में भाषा का परिष्कार तथा उसकी संगीतात्मकता इतनी ऊँची उठी कि बोलचाल के प्रयोगों से वह बहुत दूर चली गई।

कौन-कौन तुम परिहतवसना म्लानमना भूपतिता सी।
वातहता विच्छिन्न लता सी रतिश्रांता व्रजवनिता सी॥

उस युग की भाषा का यह एक प्रतिनिधि उदाहरण है। इस का यह मतलब नहीं कि सभी कवियों ने समस्त रचनाओं में इसी असाधारण भाषा का प्रयोग किया है, किन्तु जिन स्थलों पर भाषा में बोलचाल के प्रयोगों का अधिक संनिवेश है वहाँ भी एक दूसरे प्रकार की असाधारणता अवश्य है।

जागो फिर एक बार।
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुणविम्ब तरुणकिरण खड़ी खोल रही द्वार।

इस पद्य में भाषा बोलचाल के अधिक निकट है। किन्तु अनुप्रासों की योजना से इसमें भी असाधारणता आ गयी है। समस्त छायावादी काव्य इसी असाधारण भूमि पर स्थित है।

प्रकृति और मानव जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप तथा सौंदर्य की झाँकी इस युग की कविता को कल्पना विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है। नारी भावना का विकास इस युग में द्रुतगती से हुआ और नारी के क्रमागत स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया। कल्पना-प्रधान कवियों ने समाज के इस तिरस्कृत अंग के प्रति हृदय की समस्त सहानुभूति बिखेर दी और नारीत्व को पुरुषत्व से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया। काव्य में सामयिक स्थितियों की प्रतिक्रिया किस रूप में हुआ करती है यह प्रायः कम ही समझा जाता है। दयानन्द युग की बौद्धिकता की छाप तत्कालीन काव्य की चरित्र सृष्टि पर किस प्रकार पड़ी यह ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इस युग की विचार धारा के परिणाम स्वरूप स्वस्थ चरित्र सृष्टि में कैसी बाधाएँ पड़ीं, यह सँकेत भी किया जा चुका है। छायावाद युग में देश की तत्कालीन स्वातन्त्र्य चेतना का पूरा प्रभाव देखा जाता है। प्राचीन गौरव की अभिव्यक्ति तथा रहस्यात्मक दार्शनिकता इसी स्वातंत्र्य चेतना के परिणाम हैं।

काव्य स्वरूप की दृष्टि से प्रगीत पद्धति का विकास इस युग की विशेषता है। आत्माभिव्यंजना का माध्यम प्रगीत कविता ही होती है और इस युग की सांस्कृतिक आत्मव्यंजना इसी माध्यम से हो सकी। नवीन चेतना का इतना प्रसार न था। नवीन काव्य वस्तून्मुखी Objective रूप धारण करे, फिर भी 'कामायनी' काव्य में नवीन वस्तुसत्ता का भी सन्निवेश किया गया है। जिस मात्रा में नवीन संस्कृति का निर्माण हो चुका था उस मात्रा में

कामायनी काव्य भी नवीन वस्तुव्यंजना कर सका है किन्तु उपादान की कमी के कारण इस काव्य में पर्याप्त वस्तु विस्तार और ओजस्विता नहीं आ पायी।

राष्ट्रीय जागृति का वह प्रथम प्रहर था। नवजागरण के सभी उपादान इस काव्य में पाये जाते हैं, किंतु भाषा और साहित्य का परिपूर्ण विकास इस काल में नहीं हो पाया। सामूहिक चेतना के अभाव में कवियों को अपनी व्यक्तिगत साधना का आधार लेना पड़ा और यही साधना प्रगीतात्मक काव्यस्वरूप द्वारा व्यक्त हुई। प्राचीन रीति के त्याग की सूचक नवीन युग के निर्माण की लगन तथा नवीन संस्कृति के जन्म का संकेत आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत इन मनोरम प्रगीतों में प्राप्त होता है।

द्विवेदी-युग तथा छायावाद युग की काव्यशैलियों का एक सामान्य परिचय ऊपर दिया गया। दोनों का अन्तर भी दिखाने की चेष्टा की गई। जिस प्रकार कुछ समीक्षक इन दोनों युगों की काव्य प्रेरणाओं तथा काव्य स्वरूपों का स्पष्ट अन्तर नहीं देख पाते उसी प्रकार कुछ अन्य समीक्षक छायावादी काव्य शैली तथा आज की नवीन काव्यशैली का अन्तर भी नहीं परख पाते। किंतु हम इतना निर्देश कर देना चाहते हैं कि वर्त्तमान कविता नवीन शैली को अपना चुकी है जो छायावादी शैली से भिन्न है।

आज जब नवीन शैली का पूरा विकास नहीं हो पाया है और नवीन काव्यधारा अपना निर्माण नहीं कर पाई है तब नवीन काव्य स्वरूप का परिचय देना कुछ कठिन अवश्य है फिर भी

उपलब्ध सामग्री को देखते हुए उसका आभास प्राप्त होता है।

सबसे पहले हम यह देखें कि छायावादी काव्य शैली से भिन्न नयी काव्यशैली की बहिरंग विशेषतायें क्या हैं ? दोनों का एक अच्छा अंतर श्री सुमित्रानन्दन पंत की भाषा की बच्चन की भाषा से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है। किसी साधारण काव्य-पारखी के कानों में पड़ने पर भी दोनों की भाषा तथा शब्दप्रयोगों का अन्तर साफ हो जाता है। पंत की भाषा में जो असाधारणता तथा जो 'साहित्यिकता' है, बच्चन जी की भाषा में उसका अभाव है। काव्यात्मक पदावली का चयन करने में पंतजी प्रचलित भाषा से बहुत दूर चले जाते हैं, किंतु बच्चन की भाषा में लोकव्यवहार की पूरी छाप है। किंतु इसका यह आशय नहीं कि बच्चन की भाषा फिर एक बार द्विवेदी युग की पद्य भाषा के समीप पहुँच गई है। ऐसी कोई बात नहीं है। न बच्चन की कविता में द्विवेदी युग के काव्य की रुक्षता है और न उनकी भाषा में द्विवेदी युग की भाषा का सा अनगढ़ स्वरूप।

ऊपर के उल्लेख से यह बात स्पष्ट हुई कि हिंदी काव्य में बच्चन के आगमन से एक नई काव्यशैली की प्रतिष्ठा होने लगी जिसकी एक विशेषता यह थी कि उसकी भाषा अधिक व्यावहारिक, अधिक लोक-प्रचलित और यथार्थ थी। पीछे से कुछ छायावादी कवियों ने भाषा के इसी व्यावहारिक स्वरूप को अपनाने की चेष्टा की जैसे निरालाजी ने कुकुरमुत्ता में—

एक थे नवाब,
फारस से मँगाये थे गुलाब

बड़ी बाड़ी में लगाये
देशी पौधे भी उगाये
ग़ज़नवी महमूद का सा
बाग़ मनहर लग रहा था
एक सपना जग रहा था
साँस ले तहजीब की
गोद में तदबीर की

परन्तु यह कविता व्यंग्यात्मक है और इस कारण इसकी पदावली उपयुक्त विनोद की सृष्टि करती है। सामान्य काव्य भाषा से यह भिन्न है और विशेष प्रयोजन से लिखी गई है। दूसरे इस भाषा में वह स्वाभाविकता और अधिकार नहीं, जो बचन की भाषा में है अथवा जो स्वयं निरालाजी की कुछ प्राथमिक रचनाओं में देखा जाता है—

रोक टोक से कभी नहीं रुकती है
यौवन मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?
सुना उसे रोकने कभी कुंजर आया था।
फल क्या पाया था ?
तिनका जैसा मारा मारा
फिरा तरंगों में बेचारा
गर्व गवाया, हारा
यदि भ्रमवश आओगे

दुर्दशा कराओगे
बह जाओगे

निरालाजी के इन दोनों उद्धरणों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि उनकी प्राथमिक रचनाओं में भाषा की जो स्वाभाविकता है वह पिछली रचनाओं में नहीं है। ऐसी अवस्था में निरालाजी की अपेक्षा बच्चन को नई कविता शैली के अधिक निकट कहा जा सकता है; पंतजी की भाषा में प्रचलित भाषा का स्वाभाविक राग नहीं निखरा। उनकी पदावली सदैव सुसंस्कृत रही है।

वर्णन शैली की ओर ध्यान देने पर प्रकट होता है कि विवरण और वस्तुसत्ता की ओर झुकाव नये युग के काव्य में छायावाद की अपेक्षा कहीं अधिक है। यह यथार्थवादी प्रवृत्ति नये काव्य की विशेषता है। पंतजी के काव्य में चित्रण की यथार्थता उनकी 'नौका-विहार' अथवा 'एक तारा' जैसी रचनाओं में देखी जाती है, किन्तु उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विवरण नवीन काव्य के लिए अपेक्षित है। 'दीपशिखा' में महादेवी तथा 'निशानिमन्त्रण' में बच्चन वस्तु और वातावरण के चित्रण में अधिक यथार्थ हैं। छायावादी काव्य में कल्पना की उड़ान अधिक है।

सौन्दर्य की ओर अधिक झुकाव छायावाद युग के काव्य की एक विशेषता रही है। असुन्दर भयानक और विस्मयकारक अथवा अरोचक का चित्रण नये युग के काव्य की एक अन्य विशेषता है। यह भी यथार्थवाद की दिशा में बढ़ाया गया एक क़दम है। सामान्य वस्तु के चित्रण की अभिरुचि भी देखी जाती है। जीवन

के दैनिक और गोचर पहलू को लेकर नई कविता अपना विकास कर रही है। भाषा के क्षेत्र में जिस व्यावहारिकता का हम उल्लेख कर चुके चित्रण के क्षेत्र में वही विवरणपूर्ण वास्तविकता, वही यथार्थवाद नवीन काव्य में देखा जाता है।

बच्चन और अंचल जैसे कवि मूलतः प्रकृतिवादी (Naturalist) हैं। प्रकृतिक का सम्बन्ध वैयक्तिक इन्द्रियानुभूति से हुआ करता है। स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के बीच यत्र तत्र यह प्रकृतिवादी ध्वनि सुनाई पड़ती रही है। स्वयं प्रसादजी की रचनाओं में प्रकृतिवादी प्रभाव देखा जाता है।

प्रसाद में जो प्रकृतिवाद आंशिक और विरल है वह बच्चन और अंचल में व्यापक और स्पष्ट है। उमर खय्याम की दार्शनिक प्रणाली को अपना लेने के कारण बच्चन का प्रकृतिवाद एक बौद्धिक आधार प्राप्त कर लेता है। अंचल ने भी अपनी पिछली रचनाओं में इन प्राकृतिक अनुभूतियों का अवसान 'प्रगतिवाद' के अन्तर्गत करना चाहा किन्तु दोनों कवियों की प्रकृतिवादी प्रवृत्ति उन्हें यथार्थ के अधिक समीप लाती गई है।

प्रकृतिवाद के मूल में यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति काम करती है। यही कारण है कि नवीन युग की काव्यधारा में परस्परविरोधी रसों या भावों के होते हुए भी यथार्थवादी शैली की प्रमुखता है। एक ही कवि व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रकाशन में यथार्थवाद की पद्धति को अपनाता है और बाह्य जगत् के चित्रण में भी। 'आकुल अंतर' और 'व्याकुल विश्व' एक ही कवि के दो प्रयोग हैं। नरेन्द्र

की रचना में भी जहाँ एक ओर 'कामिनी' जैसी कृतियाँ हैं वहाँ दूसरी ओर 'यकुम मई' जैसी राजनीतिक रचनाएं भी। अञ्चल और सुमन की रचनाओं में भी यही द्विमुखी प्रभाव देखा जाता है। किन्तु कुछ नये कवि इसी यथार्थवादी शैली में वीर काव्य या व्यंग्य-काव्य का निर्माण कर रहे हैं।

ऊपर के विवरण से नवीन काव्य-शैली की कतिपय विशेषताओं का परिचय मिलता है। कुछ कवि ऐसे भी हैं जो इनमें से एक या दूसरी धारा की ओर अधिक झुके हुए हैं, अर्थात् उनमें से कुछ में वैयक्तिक अनुभूति का ही प्राधान्य है और कुछ अन्य में सामाजिक प्रेरणा का। दोनों के मूल में यथार्थवादी काव्य-शैली की स्थिति है। वर्त्तमान काव्य का भविष्य बहुत कुछ देश के राजनीतिक भविष्य पर अवलंबित है। यदि देश में राजनीतिक क्रांति सफल हो गई तो वर्त्तमान काव्य का कदाचित् कायाकल्प हो जायेगा। हिंदी कविता में प्रगतिवादी पक्ष का प्राबल्य होगा और नवीन कविता वीर गीतों की ओर बढ़ चलेगी। जिस प्रकार छायावादी काव्य कल्पनाप्रधान सांस्कृतिक शृंगार रस के मधुर गीत का आश्रय लेकर चला था उसी प्रकार नवीन काव्य यथार्थवादी वीरगीतों की परंपरा को पुष्ट करेगा और संभव है उन वीरगीतों का परिपाक किसी महाकाव्य के रूप में भी हो। हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों को आत्मसात् करनेवाला महाकाव्य ही नवयुग का प्रतिनिधि काव्य होगा। काव्यानुभूतियों की विविधता और व्यापकता को देखते यथार्थवादी शैली की प्रमुखता

हो रही है और वस्तु चित्रण की ओर रुचि बढ़ रही है। भाषा भी अधिक लोक-प्रचलित और व्यवहारिक होती जा रही है। इन सबका समन्वय करके वीर गीतों की पद्धति सफलतापूर्वक अपनाई जा रही है और परिणाम में नवीन राष्ट्रीय संस्कृति का संनिवेश करनेवाले महाकाव्य के प्रस्तुत होने की भी संभावना है।

नवीन कविता में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के रहते हुए भी जो अन्तरवर्ती एकरूपता है उसका संक्षेप में उल्लेख किया गया। बहुधा हिन्दी कविता की तुलना पाश्चात्य कविता से की जाती है और पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के आधार पर हिन्दी काव्य पर भी सम्मतियाँ बनाई जाती हैं। किन्तु यूरोप की परिस्थिति और भारतीय परिस्थिति में अन्तर है। यूरोपीय समाज प्रगतिशील रूस को छोड़कर प्रायः साम्राज्यवादी और शोषक राष्ट्रों का समाज है। उन देशों की राष्ट्रीय शक्ति क्षीण हो गई है और उन्हें नवीन रूप से उज्जीवित होने की आवश्यकता है। वहाँ का काव्य इसी कारण बहुत कुछ उद्देश्यहीन और कलावादी रहा है। भारतीय काव्य और विशेषतः हिन्दी कविता परतन्त्र देश की स्वतन्त्रताकांक्षिणी भावना की कविता है। अवश्य कुछ कवियों ने व्यक्तिगत असामर्थ्य के कारण हीन भावनाओं की सृष्टि की है, किन्तु सामूहिक रूप से हिन्दी कविता भारत के राष्ट्र के नवजीवन की प्रतिनिधि है। विदेशी कविता के प्रतिमानों को हिंदी में चरितार्थ करना ठीक न होगा। रूस की ही भाँति यहाँ का कवि वर्ग क्रांति का आकांक्षी है। उद्देश्य की स्पष्टता नवीन

कवियों में पर्याप्त मात्रा में है। विभिन्न साहित्यिक वादों और दार्शनिक उपक्रमों के मूल में राष्ट्रीय क्रान्ति की अभिलाषा सर्वत्र दीख रही है।

पिछले तीन उत्थानों की काव्य शैलियों की परख के लिए हम उदाहरण भी लेकर देखें। द्विवेदी काव्य-शैली की एक प्रतिनिधि रचना से किसी छायावादी प्रगीत की तुलना करें। साकेत, नवम सर्ग में गुप्त जी का यह गीत आया है—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग भी जलता है, हा दीपक भी जलता है।

पूरा गीत देने की आवश्यकता नहीं। पतंग और दीपक के 'जलने' की कल्पना को ही लीजिये। पतंग का जलना तो वास्तविक काव्य-संवेदन का विषय है (यद्यपि इसमें भी कवि-परंपरा का इतना अधिक योग रहा है कि रीति की छाप-सी लग गई है) किन्तु दीपक का 'जलना' केवल औपचारिक है, लाक्षणिक है, भावात्मक नहीं। यह आलंकारिक और 'अवास्तविक' कल्पना अच्छा छायावादी कवि नहीं कर सकता। उसका ध्येय ही इस ओर न जायगा। ऐसी मूर्ति-योजना करने वाला व्यक्ति किसी अनुभूति-प्रधान काव्य-युग का प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

फिर इस पद्य की शब्द-योजना और शाब्दिक ध्वनियों में छायावादी संगीत की कहीं झलक नहीं है। स्थूल अर्थ-निष्पत्ति के लिए ही शब्द रखे गये हैं, उनकी कोई स्वतन्त्र संगीतात्मक

या सजीव सत्ता नहीं है। छायावादी शैली का कोई सुन्दर कवि ऐसी पद-योजना न करेगा।

काव्य-कल्पना और शब्द-संकेतों में वास्तविक अनुभूति का योग छायावाद काव्य की विशेषता है। इसलिए छायावाद काव्य की शब्द-योजना, कल्पना, तथा भाव-धारा में एक सुन्दर, सजीव और अविच्छेद्य सामंजस्य रहा करता है।

इसी प्रकार निराला और बच्चन या पंत और बच्चन की शब्द-योजना की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि निराला और पंत का ध्यान शाब्दिक लय की ओर जितना अधिक है, बच्चन का उतना नहीं। किन्तु बच्चन की पदावली अधिक व्यावहारिक, सार्थक और सरल है।

उदाहरण देखिये—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणी,
कैसे तूने पहचाना
कहाँ कहाँ हे बाल बिहंगिनि
पाया यह स्वर्गिक गाना,
सोई थी तू स्वप्न नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर
ऊँघ रहे थे घूम द्वार पर
जुगुनू से प्रहरी नाना

—पंत

आज ही आना तुम्हें था ?
आज मैं पहले पहल कुछ
घूँट मधु पीने चला था,
पास मेरे आज ही क्यों
विश्व आ जाना तुम्हें था ?
एक युग से पी रहा था
रक्त मैं अपने हृदय का
किन्तु मद्यप रूप में ही
क्यों मुझे पाना तुम्हें था ?
आज ही आना तुम्हें था ?

अनुभूति के क्षेत्र में बच्चन की सी गहराई छायावादी कवियों में कम मिलेगी, यद्यपि बच्चन की यह गहराई अत्यधिक वैयक्तिक है। इस दृष्टि से बच्चन जी की वास्तविक कविता 'एकांत संगीत' और 'निशा-निमंत्रण' में ही मिलती है, उनकी 'आकुल अन्तर' और 'व्याकुल विश्व' कृतियों में वह आत्मीय का आत्मिक संवेदन नहीं दीखता । व्यक्तित्व का पर्यवसान यदि काव्य की कसौटी माना जाय तो 'निशा-निमन्त्रण' ही उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना ठहरेगी।

भावात्मक अनुभूति की भूमि को छोड़कर वर्तमान कवि दो दिशाओं में प्रस्थान कर रहे हैं। भावना प्रधान, अवास्तविक क्रांति-गीतों की ओर अथवा यथार्थवादी किन्तु सामंजस्य रहित भाषा प्रयोग की ओर। ये दोनों प्रक्रियाएँ श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि करने में उसी प्रकार अक्षम रही हैं जिस प्रकार छायावादी पंत या निराला की रचनाएँ नवीन काव्य-भावना अथवा नयी भाषा-

शैली का प्रतिनिधित्व करने में। बच्चन जी बंगाल के अकाल पर मुक्त छंद का प्रयोग कर रहे हैं; दूसरी ओर कुछ प्रसिद्ध छायावादी कवि भाषा और शैली में नये 'यथार्थवाद' को अपना रहे हैं। दोनों ही के प्रयास अब तक सफल नहीं हो पाये। काव्य का संबंध कवि के व्यक्तित्व से कितना गहरा होता है, यह इन प्रयासों की असफलता बता रही है।

नवीन काव्य-शैली का प्रतिनिधि कवि अभी क्षेत्र में नहीं आया। नवीन संस्कारों को लेकर ही वह आवेगा। किन्तु वह पंत के 'प्रगतिवादी' काव्य अथवा 'कुकुरमुत्ता' की 'हिन्दुस्तानी' की अपेक्षा बच्चन की चित्रण और भाषा-शैली से अधिक प्रेरणा ग्रहण करेगा। 'सुमन' 'रसिक' 'नैपाली' जैसे कवियों की रचनाएँ इसका संकेत देती हैं।

नई कविता अभी अपनी निर्माणावस्था में है। एक आव उठ चुका है, जो निश्चय ही छायावादी आवर्त से प्रकृत्या भिन्न है। इसके निर्माण के लिए छायावादी काव्य-परंपरा का त्याग आवश्यक होगा। बच्चन के काव्य में वह त्याग मौजूद है किन्तु बच्चन की कविता नवीन आवर्त की अवरोह स्थिति की सूचक है। शैली की दृष्टि से नवीन काव्य का जन्म बच्चन से ही आरम्भ हो जाता है किन्तु इस नवीन काव्य-शैली का आरोह काल अब आया है और निकट भविष्य में वीर-गीतों के काव्यस्वरूप के अन्तर्गत इसके परिपाक की संभावना है। नवीन शैली में हमें इतना समझ रखना चाहिए कि शैली की दृष्टि से नवीनतम हिंदी कविता बच्चन

के जितने समीप है, उतने समीप पन्त और निराला के नहीं है।

हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि शैली की परख ही काव्य की नाड़ी की परख है। जब तक नाड़ी की परीक्षा न होगी नवीन काव्यात्मा का परिचय पाना कठिन है।

आज की अव्यवस्था में जब काव्य के वास्तविक प्रतिमान उपेक्षित हो रहे हैं, यदि हम भाषा और शैली की विशेषताओं को (काव्य-शरीर की परख को) ही आधार बनाकर चलें तो अनुचित न होगा। क्रमशः व्यवस्था आने पर हम दूसरे प्रतिमानों की ओर दृष्टिपात कर सकते हैं।

एक ओर कुछ समीक्षक यह भय उत्पन्न करा रहे हैं कि काव्य का युग बीत गया। अब गद्य का युग है। वे नवीन कविता के नीरस-अंश को उपस्थित करते हैं। कुछ अन्य समीक्षक काव्य में विषय और वक्तव्यवस्तु को इतना अधिक महत्व देते हैं कि काव्य की अपनी सत्ता का तिरस्कार ही हो जाता। काव्यसंस्कृति का लोप होने की नौबत आ जाती है। दैनिक पत्रों की चलती संपादकीय टिप्पणी तथा उत्कृष्ट कविता में कोई अन्तर नहीं रह जाता। प्रश्न यह है कि इन दृष्टि-दोषों से हमारे काव्य की रक्षा किस प्रकार होगी?

नवीन कविता छायावादी कल्पना-प्रवणता के स्थान पर यथार्थवादी पद्धति को अपना रही है। काव्य में यथार्थवाद अथवा बाह्यार्थवाद की योजना एक शैली के रूप में स्वागत योग्य है। हमारा काव्य इस नवीन शैली को अपनाकर विकास की नई दिशा

में चल रहा है। यह समझना कि वह अकाव्यत्व की ओर बढ़ रहा है, अथवा काव्य संस्कृति का परित्याग कर रहा है, अनुचित होगा। काव्य में यथार्थवाद का अर्थ अकाव्यत्व नहीं है, न उसका अर्थ काव्य के स्थाई प्रतिमानों का त्याग ही है। यदि हम इन अधूरे, एकांगी और भ्रामक निरूपणों से बचना चाहें तो नीवन काव्य-शैली का अधिक अन्तरंग अध्ययन ही हमारे काम आ सकता है।

---

[११]

वर्तमान हिन्दी-कविता और उसकी प्रगति

(श्री व्रजमोहन गुप्त)

यों तो वर्तमान हिन्दी-कविता का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से होता है; किन्तु उनके बाद भी प्राचीन धाराएँ एक लम्बे अरसे तक दृष्टिगोचर होती रहीं। काव्य-क्षेत्र में जिस तेजस्विनी क्रांति का बीज उनके समय में अंकुरित हुआ था, वह पिछले दस वर्षों में पौदा बनकर पल्लवित पुष्पित हुआ है।

जिस प्रकार यह नहीं बताया जा सकता कि आकाश में उषाकाल की अरुणिमा कहाँ समाप्त होती है और कहाँ से आकाश का नीलवर्ण प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार साहित्य के दो युगों के बीच में भी कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। हाँ उन प्रभावों और शक्तियों को समझना आवश्यक और अपरिहार्य हो जाता है जिनके कारण साहित्य-क्षेत्र में नवयुग का अवतार हुआ है। साथ ही राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियों पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक होता है क्योंकि उनका साहित्य के साथ पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है।

वीरगाथा काल व्यक्तिगत वीरता का युग था, इसीलिए चन्द, जगनिक और नरपतिनाल्ह की रचनाओं में हम जातीयता या राष्ट्रीयता की भावना नहीं पाते। उन्होंने व्यक्तिगत वीरता के ही गीत गाये। भूषण और लाल ने अपनी रचनाओं का आधार जातीयता की भावना को बनाया, और वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्रीय भावनाओं की रेखाएँ गहरी होती दिखाई दीं। भारत में विदेशियों का आधिपत्य स्थापित हो जाने पर हिन्दू और मुसलमान नवीन रूप में एक दूसरे के सम्पर्क में आये। विभिन्न प्रकार के अन्तर रहने पर भी भारतवासियों ने अनुभव किया कि सम्पूर्ण भारत एक अविभाज्य इकाई है। राजनैतिक कारणों से उत्पन्न हुई इस सामाजिक अनुभूति का प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा।

पाश्चात्य शासन के साथ-साथ पाश्चात्य विचार और आदर्श भी हमारे देशमें आये जिनका हमारे सामाजिक संगठन और धार्मिक विश्वासों का कम प्रभाव नहीं पड़ा। आधुनिक युग अविश्वास का युग है। राजनैतिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, धार्मिक क्षेत्र, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस अविश्वास की छाया दृष्टिगोचर होती है। आज कल की स्थिति में कबीर, जायसी, सूर या तुलसी की भाँति ज्ञान, प्रम, भक्ति या साधना की डोर पकड़ कर जीवन-पथ पर अग्रसर होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आधुनिक युग में अगर सरलता से किसी एक पथ पर दृढ़ रहा जाना संभव है तो वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भटकने वालों का कटु संघर्ष-

जनित निराशा और वेदना की अभिव्यक्ति का पथ ही है।

वर्तमान युग में भारतवर्ष में पाश्चात्य आधार पर विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि का अध्ययन आरम्भ हुआ। इन्होंने जीवन तथा जगत के प्रति मानव के दृष्टिकोण को बहुत परिवर्तित कर दिया है। जीवन तथा सृष्टि के प्रति वैज्ञानिक का दृष्टिकोण ज्ञानी, साधक या भक्त के दृष्टिकोण से भिन्न होगा ही। वर्तमान हिन्दी कविता की विभिन्न धाराओं को भली प्रकार समझने के लिए इन सब बातों को हमें ध्यान में रखना होगा।

आधुनिक हिन्दी जगत के दो श्रेष्ठ कवि मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय, अपने को आधुनिक संघर्ष की कटुता के प्रभाव से बचाने में सफल हो सके हैं। दोनों कवि काव्य-पथ पर साधना, विश्वास और भक्ति की डोर थाम कर अग्रसर हो सके हैं, जो भक्त कवियों की सबसे बड़ी संपत्ति थी। मैथिलीशरण जी को हम राष्ट्रीय कवि की अपेक्षा आर्य हिन्दू संस्कृति के प्रतिनिधि कवि के रूप में ही अधिक पाते हैं। जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है गुप्त जी और उपाध्याय जी के दृष्टिकोण में हम अधिक अंतर नहीं पाते। दोनों कवियों ने गीत,काव्य की अपेक्षा, जो कि इस युग की काव्य धारा की सबसे प्रमुख विशेषता है, प्रबन्ध काव्य-रचना की ओर अधिक रुचि प्रदर्शित की। इन्हीं सब कारणों से इन दोनों कवियों के लिए श्रेष्ठ स्थान अन्य आधुनिक कवियों से अलग ही सुरक्षित है।

आधुनिक युग के प्रत्येक अच्छे कवि की रचना पर उसके

निजी व्यक्तित्व और दृष्टिकोण की इतनी अधिक गहरी छाप है कि उन्हें विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष और असन्तोष है। हमने पिछले दिनों भारत में राजनैतिक, धार्मिक सामाजिक, प्रत्येक क्षेत्र में उथल पुथल देखी, संघर्ष देखा। शोषण, भूख, संघर्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने विश्वास के अंकुरों को उखाड़ फेंका। इस परिस्थिति का विभिन्न प्रकृति के कवियों पर विभिन्न प्रभाव पड़ा।

कुछ कवियों ने इस संघर्ष तथा संघर्ष-जनित वेदना और निराशा से ऊपर उठने का प्रयत्न किया। ऊपर उठने के लिए उन्होंने रहस्यवाद, छायावाद, प्रकृति और दार्शनिक विचारों का सहारा लिया। इस श्रेणी के प्रतिनिधि स्वरूप हम प्रसाद, पन्त, निराला और रामकुमार वर्मा को ले सकते हैं। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि उपर्युक्त कवि अपने काव्य क्षेत्र में कभी संघर्ष और पीड़ा के तल पर उतरे ही नहीं। साधारणतया जो इनकी रचनाओं का वातावरण रहा है, उसी के आधार पर इन्हें इस श्रेणी में स्थान दिया गया है।

इस श्रेणी के कवियों की जितनी भी विशेषताएँ हैं, वे प्रायः सभी प्रसाद जी में मिलती हैं। उन्हें इस श्रेणी का 'आदि पुरुष' कहा जा सकता है। उनकी रचनाओं में ऊँची कल्पना, प्राकृतिक सौन्दर्य, गहरी अनुभूति, दार्शनिक विचार, रहस्यमयी भावना,

इन सभी का बड़ा सुन्दर सामंजस्यपूर्ण सम्मिश्रण मिलता है। नीचे की पंक्तियों में प्रभातकालीन प्रकृति-सौन्दर्य और प्रफुल्ल वातावरण के चित्रण के साथ साथ उन्होंने जागृति का सन्देश दिया है।

बीती विभावरी, जाग री!
अम्बर-पनघट में डुबो रही
तारा-घट उषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अञ्चल डोल रहा,
लो, यह लतिका भी भर लाई
मधु-मुकुल-नवल-रस-गागरी।
अधरों में राग असन्द पिये
अलकों में मलयज बन्द किये
तू अब तक सोई है आली,
आँखों में भरे विहाग री।

यों तो पन्त जी ने भी प्रकृति से दार्शनिक विचारों के विवेचन की प्रेरणा प्राप्त की है और निरालाजीने भी अपने दार्शनिक विचारों का आधार प्रकृति को बनाया है। किन्तु पन्तजी की विशेषता प्रकृति-सौन्दर्य और निरालाजी की विशेषता उनके दार्शनिक विचार हैं। कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों ही के दृष्टिकोण से पन्तजी ने अपने अध्ययन में जो कुछ श्रेष्ठतम पाया, उसे वे आत्मसात् करके अपने पथ पर अग्रसर हुए। निराला जी का

ध्यान मौलिकता की ओर अधिक रहा और इसलिए वे अन्य कलाकारों की उन प्रवृत्तियों से, जिनसे वे परिचित थे, बच कर चलने के लिए प्रयत्नशील रहे।

प्रकृति और मानव-जीवन के सोने-चाँदी के तारों से बुनी गई पंतजी की ये पंक्तियां उनके दृष्टिकोण को समझने में काफी सहायक होंगी—

वन की सूनी डाली पर
सीखा कली ने मुसकाना
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना।
काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली
इस में ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।

निराला जी मानव को जागरण का संदेश देते हुए उसे याद दिलाते हैं—

मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा विहीन-बन्ध छन्द ज्यों
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप।
महा मन्त्र ऋषियों का
अणुओं—परमाणुओं में फूँका हुआ
तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्

है नश्वर यह दीन भाव
कायरता कामपरता
ब्रह्म हो तुम,
पद रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्वभार—
जागो फिर एक बार !

इन पंक्तियों में कवि की अन्तर आत्मा और काव्य-शैली दोनों ही के बल और स्वतन्त्रता का परिचय मिल जाता है।

जैसे वसंत ऋतु में तरुओं पर, स्वभावतः नवल कोमल लघु पल्लव दल उग आते हैं ऐसी ही रामकुमार जी की कविता है, और यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनकी रचनाओं में प्रकृति के प्रति कहीं तो बालकों वाला कौतूहल और उत्सुकता दिखाई देती है और कहीं गंभीर दार्शनिकों वाला दृष्टिकोण। उनकी अन्तरात्मा की यह पुकार किसके हृदय को झंकृत न कर देगी ?—

देव मैं अब भी हूँ अज्ञात ?
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात ॥
तुमसे परिचित होकर भी मैं
तुमसे इतनी दूर !
बढ़ना सीख-सीख कर मेरी
आयु बन गई क्रूर !!
मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात ॥ देव मैं ॥

यह ज्योत्सना तो देखो, नभ की
बरसी हुई उमङ्ग
आत्मा-सी बनकर छूती है
मेरे व्याकुल अंग ।
आओ चुम्बन-सी छोटी है यह जीवन की रात ।।
देव मैं अब भी हूँ अज्ञात ?

उन कवियों को जिन्होंने संघर्ष, वेदना और कटुता को देखा, समझा और अनुभव किया, हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं ।

इनमें प्रथम श्रेणी उन कवियों की है जिन्होंने संघर्ष और समाज के उत्पीड़न का कारण वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति में देखा, और जो इस परिस्थिति को बदलने के लिए राष्ट्रीय जागृति के संदेश द्वारा, देश के स्वातंत्र्य संग्राम के महायज्ञ में आहुति डालनेके लिए अग्रसर हुए । इस श्रेणी में सुभद्रा कुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सोहनलाल द्विवेदी आदि की राष्ट्रीय रचनाएँ हैं ।

सुभद्रा कुमारी चौहान अपने हृदय को समझाती हैं—

असहयोग पर मिट जाना, यह जीवन तेरा होगा ।
हम होंगे स्वाधीन, विश्वका वैभव धन तेरा होगा ।

और फिर कहती हैं—

न होने दूंगी अत्याचार, चलो मैं हो जाऊँ बलिदान !
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार, चढ़ा दो मुझको हे भगवान !

और नवीन जी अपने हृदय के कवि से कहते हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुना दे;
जिससे उथल-पुथल मच जाये।

इनमें दूसरी श्रेणी उन कवियों की है जो वेदना को वरदान के रूप में अपनाते हैं। उन्होंने कष्टों और वेदनाओं को, हार बनाने के लिए फूलों की तरह हृदय विंधवाने को, अपनी साधना का अंग बना लिया है। इस श्रेणी का प्रतिनिधित्व महादेवीजी करती हैं। उन्होंने वेदना और पीड़ा को, आराध्य देव का वरदान तथा साधना-पथ समझकर, आनन्दानुभूति के अभिव्यक्तीकरण का सफल प्रयत्न किया है—

विरह का युग आज दीखा;
मिलन के लघु पल सरीखा;
दुःख सुख में कौन तीखा?
मैं न जानी औ' न सीखा!

मधुर मुझको हो गये सब मधुर ... प्रिय की भावना लें।

और वे सहसा कह उठती हैं।

प्यास ही जीवन, सकूँगी
तृप्ति में मैं जी कहाँ?

तीसरी श्रेणी उन कवियों की है, जिन्होंने संघर्ष, वेदना और कटुता को नियति का अभिशाप माना है। इस श्रेणी का प्रतिनिधित्व सबसे अधिक सफलतापूर्वक 'बच्चन' करते हैं। वेदना दुःख और असफलता तथा उनकी समृद्धि से 'बच्चन' जी का

काव्य-स्रोत प्रवाहित होता है। क्रूर नियति के अभिशाप दुःख और वेदना के प्रति, अगर उसे भुलाया जाना सम्भव न हो तो इनकी स्वीकृति की भावना है—

आओ अपनी लघुता जानें,
अपनी निर्बलता पहचानें,
जैसे जग रहता आया है, उसी तरह से रहना होगा !
साथी सब कुछ सहना होगा !

× × × ×

डूबी रही है नौका मेरी।
बन्द जगत हैं आँखें तेरी
मेरी सङ्कट की घड़ियों के साखी नभ के तारे !
अब तो दुःख के दिवस हमारे !

साथ ही हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि 'बच्चन' में एक ज़बरदस्त विद्रोह की भावना भी है—

झुकी हुई अभिमानी गर्दन,
बँधे हाथ, नत-निष्प्रभ लोचन !
यह मनुष्य का चित्र नहीं है, पशु का है, रे कायर !
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर !

इनके अतिरिक्त एक धारा और है जिसे 'प्रगतिवाद' का नाम दिया जाता है। इसकी रूप-रेखा अभी ठीक-ठीक निश्चित नहीं हुई है। इसके विषय में कुछ लोगों का विचार है कि कविता मजदूर किसानों के जीवन से संबन्ध रखनेवाली हो और वह इतनी सरल

हो कि उसे थोड़े ही पढ़े-लिखे किसान मज़दूर भी समझ सकें। श्रीमन्नारायण जी का 'रोटी का राम' इसी प्रकार का कविता-संग्रह है। ऊपर के कवियों में पंतजी ने —हमारा तात्पर्य 'युगांत' से पूर्व के पंतजी से है —अपने नवीन कविता-संग्रह 'युगवाणी'में प्रगतिशीलता के दृष्टिकोण से भावुकता, कल्पना तथा अनुभूति की अपेक्षा मस्तिष्क के विचार, चिंतन तथा सिद्धांत-प्रतिपादन-तत्व पर अधिक ज़ोर दिया है।

इन श्रेणियों के अतिरिक्त कुछ और ऐसे कवि रह जाते हैं जिन्हें इनमें से किसी भी श्रेणी के साथ पूर्णतया एकाकार नहीं किया जा सकता। दिनकर जी के श्रेष्ठ कविता-संग्रह 'रेणुका' को देखकर अंग्रेजी के 'रोमान्टिसिज्म, (Romanticism) की याद आ जाती है। वर्तमान से असन्तोष, प्राचीनकाल में गौरव-दर्शन और भविष्य के लिए नवीन और सुखद संसार की कल्पना, प्रकृति तथा ग्रामीण जीवन से प्रेम आदि 'रोमान्टिसिज्म' की सभी विशेषताएँ उसमें मिल जाती हैं। 'रेणुका' हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य निधि है।

भगवतीचरणजी का दृष्टिकोण संसार के तथा उस दुःख-सुख के प्रति यथार्थवादी का रहता है। वे उसके उत्पीड़न से बचने के लिए, रहस्यवाद, प्रकृति या दार्शनिक विचारों के किले में नहीं छिपते। न तो वेदना को वरदान समझकर वे उसका गुनगान ही करते हैं और न उससे अत्यधिक उत्पीड़ित होकर वेदना को रोदन द्वारा अभिव्यक्त ही करते हैं। उनका दृष्टिकोण उस बेफ़िक्र

व्यक्ति जैसा है जो दुःख-सुख को उनके यथार्थ रूप में देखता, अनुभव करता, अपनी मस्ती में, अपने पथ पर चलता चला जाता है। इन्होंने जो 'प्रगतिशील' रचनाएँ की हैं वे भी सरस तथा सुन्दर हुई हैं। यह उनकी विशेषता है। इलाचन्द्र जोशी जी की 'विजनवती' को देखकर इससे अधिक उपयुक्त और कोई शब्द नहीं मिलता कि कहूँ कि वे एक 'क्लासिकल (Classical) कवि हैं। 'विजनवती' को पढ़ते समय पाठक थोड़ी देर के लिये तो उसमें पहुँच ही जाता है जिसकी चर्चा प्राचीन संस्कृत काव्यों और नाटकों में मिलती है और इससे उसे आनन्दानुभूति प्राप्त होती है, शान्ति-सी मिलती है।

'नरेन्द्र शर्मा' यद्यपि अभी तक अपने लिये एक निश्चित पथ ढूंढ़ नहीं सके हैं, फिर भी नवोदित कवियों में वे सबसे अधिक प्रतिभाशाली हैं। उनकी रचनाओं में आशा, निराशा, प्रेम, राष्ट्रीयता, प्रगतिशीलता, सुख-दुःख सब कुछ मिलता है। जीवन में जैसे क्षण आते गये उनकी प्रतिक्रिया को वे सुन्दर गीतों में अङ्कित करते गये। भविष्य के लिए हिन्दी जगत को अत्यन्त सुन्दर कविता-संग्रह 'प्रवासी के गीत' के इस कवि से बहुत आशाएँ हैं।

[१२]

रहस्यवादी कविता का केन्द्र-बिन्दु

(आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)

यह शुरू में ही स्वीकार करलूँ कि मुझे ठीक-ठीक पता नहीं कि 'रहस्यवाद' शब्द हिन्दी साहित्य में कब चल पड़ा था। अनुमान करता हूँ कि यह सन् १६११ के पहले का नहीं। अब तक मैंने इस का जो सबसे पुराना प्रयोग पाया है वह सन् १६१२ई० के बहुत बाद का है। इस अनुमान के बल पर ही मैंने यह समझ रखा है कि 'रहस्यवाद' शब्द हिन्दी में बहुत पुराना नहीं है और संभवतःइसका इतिहास कविवर रवीन्द्रनाथकी गीतांजलि से सम्बद्ध है। गीतांजलि को युरोप में 'रहस्यावादी' पुस्तक कहा गया था। रहस्यवादी अर्थात् मिस्टिक वस्तुतः हिन्दी का रहस्यवाद शब्द अंग्रेज़ी के मिस्टिसिज़म शब्द के अर्थ में गढ़ा गया था। ऐसा जान पड़ता है कि 'रहस्यवाद' शब्द को बनाने वाले साहित्य-रसिक के दिमाग़ में संसार को कुछ रहस्य या 'मिस्ट्री' समझने वाले विचार ही प्रधान आसन पाये हुए थे। स्वयं कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'रहस्यवाद' शब्द पसंद न था। उसका कारण इसी प्रबन्ध में

मालूम हो जायगा। वस्तुतः 'गीतांजलि' में जो भाव हैं वे रहस्य-परक नहीं हैं और भारतीय साहित्य में उसे 'रहस्य' कभी भी नहीं समझा जायगा। हिंदी में 'रहस्यवादी' कहे जाने वाले कवियों में एक ही श्रेणी के कवि नहीं हैं। कोई सिर्फ रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करने के कारण रहस्यवादी कह दिया गया है, कोई प्रकृति के प्रति अपने उत्कट प्रेम के कारण ऐसा घोषित कर दिया गया है और किसी-किसी में वह तत्त्व भी मौजूद है जिसके कारण पश्चिम में गीतांजलि को मिस्टिक या रहस्यवादी रचना समझा गया था। परन्तु सौभाग्य-वश समस्त रहस्यवादी कवि एक बात में एक मत हैं। वह यह कि कबीरदास रहस्यवादी कवि थे। इस लिए रहस्यवाद के केन्द्रविन्दु को समझने के लिए कबीरदास को आसानी से अध्ययन का माध्यम बनाया जा सकता है। बीच-बीच में गीतांजलि से तुलना कर लेने से बात और भी साफ हो जायगी।

कबीरदास के पदों और गीतांजलि को भी पढ़ने की चाह रखने वाले को शुरू में ही यह मान लेना होगा कि भगवान् हैं और वे अगम्य हैं, अगोचर हैं, अकल हैं, अनीह हैं। उसे यह भी जानना चाहिए कि वे अनुभवैकगम्य हैं, केवल अपने स्वरूप से उनको साधकजन अनुभव किया करते हैं, वे 'गूंगे के गुड़' हैं, वचन और अर्थ के अतीत हैं—अनिवर्चनीय हैं। पर यह सब ज्ञान की बातें हैं। वस्तुतः तो वे ज्ञान के अगम्य हैं। क्योंकि मनुष्य की शक्ति सीमित है, उसके ज्ञानकी दौड़ बहुत मामूली है।

यह सब होने पर भी भगवान् को पाया जा सकता है। ज्ञान से नहीं, प्रेम से—'ज्ञान के अगम्य तुम प्रेम के भिखारी हो !' क्योंकि ज्ञान सब मिलाकर हमारी अल्पज्ञता को ही दिखा देता है। पर प्रेम हमारी संपूर्ण त्रुटियों और विच्युतियों को भर देता है। प्रेमी, इसीलिए प्रिय-मिलन की शर्त पर समस्त प्रकार की यातनाओं और अभावों को स्वीकार कर लेता है—'जौ मिलिये सँग सजन तौ धरक नरक हूँ की न !' (बिहारी)। क्योंकि नरक आखिर कुछ अभावों का ही तो नाम है, दुःख तो सुख का आभाव-मात्र है। और अभाव को दूर करने का एक मात्र ब्रह्मास्त्र प्रेम है। अब यदि कोई पूछे कि ऐसा क्यों होता है ? क्या कारण है कि प्रेमी अपने प्रिय के मिलन के साथ ही साथ समस्त अभावों को भूल जाता है। अभाव और दुःख तो सही चीजें हैं, प्रेम क्यों इनको दूर कर देता है ? इसका कोई अच्छा जवाब मनुष्य के पास नहीं। भगवान में जिनका विश्वास है, वे कहते हैं कि यह भगवान् की ही माया है। भगवान् के समान ही रहस्यपूर्ण, वैसो ही अनिर्वचनीय ! और फिर दुबारा यह प्रश्न हो सकता है कि माया क्यों ? भगवान् को अपनी एक प्रतिद्वन्दिनी गढ़ रखने की क्या ज़रूरत थी ? पूर्ण परब्रह्म को अपनी सृष्टि के अभावों को दूर करने के लिये माया की ज़रूरत क्यों पड़ी ? इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। ज्ञानी इसे भी माया कहता है, विज्ञानी शायद 'इंस्टिंक्ट' कहदे, पर एक नाम दे देने से समस्या हल नहीं हो जाती। माया है, यह तो ठीक है, क्योंकि विश्व जगत् में हम ऐसे-ऐसे रहस्यों को पाते हैं जो

बुद्धि के परे हैं, मनके अतीत हैं, वचन के अगोचर हैं। वे रहस्य हैं, 'मिस्ट्री' हैं, माया हैं। पर 'क्यों हैं', का कोई उत्तर नहीं।

भक्त लोग लेकिन अपने को इतना असहाय नहीं समझते। उनका उत्तर है कि भगवान् परम प्रेममय हैं। जो कुछ भी घट रहा है और जो कुछ भी घट सकना सम्भव है वह उस परम प्रेम-मय की लीला है—उसे खेलने में आनन्द मिलता है। वह भक्त की सारी अपूर्णताओं को पूर्ण करता है, यही इस बात का प्रमाण है कि वह परम प्रेम-मय है। परन्तु भक्त क्यों प्रेम करता? क्योंकि वह अपने को ही पूर्ण करता है। और भला भगवान् को क्या कमी है कि वह प्रेम का भिखारी बना रहता है? भक्त जवाब में कहता है कि इसका और कोई कारण नहीं। यह प्रेम-व्यापार भी एक लीला ही है। लीला क्यों? लीला के लिए। लीला के लिए कौनसी-वस्तु? लीला। लीला का प्रयोजन क्या है?—लीला ही। 'नहि लीलायाः किंचित् प्रयोजनमस्ति लीलाया एव प्रयोजनत्वात्।' (वल्लभाचार्य)। जो इस लीला को नहीं समझता वही मुग्ध में है। लीला भगवान् के आनन्द स्वरूप का प्रकाश है। उपनिषदों ने बताया है कि उसी आनन्द से भूतमात्र की उत्पत्ति हुई है। जो कुछ दिख रहा है, जो कुछ घटित और घटमान है वह सब उसी आनन्द से है। अगर यह आनन्द आकाश के कोने-कोने में भरा न होता तो कोई प्राण धारण नहीं कर सकता था। जीवन-मात्र का आधार है यही आनन्द (तैत्तिरीय ३–६)। क्योंकि भगवान आनन्दस्वरूप हैं, रसमय हैं!

मज़ा यह है कि यद्यपि वे आनन्द-स्वरूप और रसमय हैं तथापि रस पाकर ही वह आनन्दी होता है ! स्वयं रसरूप होकर भी रस का चाहक है, और स्वयं आनन्द-रूप होकर भी वह तब तक आनन्दवान् नहीं होता जब तक उसे रस न मिल जाय। यह अजीब विरोधाभास है, पर भक्तों का दावा है कि उन्होंने इसे अनुभव-रूप में साक्षात्कार किया है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्॥ (तैत्तिरीय २७)

जो तर्क से इसका अनुसन्धान करना चाहेगा उसे यह बात रहस्य-सी दीखेगी, पर जो प्रेम की दृष्टि से देखेगा उसके लिये इसमें कोई रहस्य नहीं है और न कोई विरोध ही है। उसके लिए यह सब भगवान् की लीला है। वह स्वयं इसे लीला का जाल पसारे हुए हैं, इस लिए स्पष्ट ही उसे प्रेम की भूख है। वह रस पाये बिना आनन्द नहीं होता—रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति !

इसी लीला के लिए प्रेम-भिखारी साईं राह-चलते भक्त पर रंग डालता है। जो दुनियादार हैं और जिनकी वृत्तियां बहिर्मुखी हैं वे उस रंग की लीला को अनुभव नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं। पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो उठते हैं, उन्हें इस छेड़-खानी में एक व्याकुल पुकार सुनाई पड़ती है। इस प्रकार की इस आवाज़ की चोट सँभालना कठिन है। यह व्याकुल पुकार सारे शरीर को बेध डालती है। इसका कोई औषध नहीं, मणि

नहीं, मन्त्र नहीं। विचारा वैद्य हैरान होकर इस प्रकार के रोगी की ओर ताकता ही रह जाता है। एक बार जिसे यह चोट लगी वह देवता हो या मनुष्य, पीर हो या औलिया, सँभाल के बाहर हो जाता है। कबीरदास गवाह हैं कि सांई के इस रंग का चोट खाया हुआ मनुष्य सब रंगों से रंग जाता है और फिर भी उस का रंग सबसे न्यारा होता है। स्वयं कबीरदास रंग चुके थे। इस अहैतुक छेड़खानी से वे व्याकुल हो चुके थे और कातर भाव से सतगुरु के पास इसका उपाय पूछने दौड़ने दौड़ पड़े थे—

सतगुरु हो महाराज,
मो पै सांईं रंग डारा।
शब्द की चोट लगी मेरे मन में
बेध गया तन सारा।
औषध मूल कछू नहीं लागे
का करै बैद बेचारा।
सुर नर मुनि जन पीर औलिया
कोई न पावै पारा।
साहब कबीर सर्व रंग रँगिया
सब रंग तें रंग न्यारा।

फागुन की ऋतु नज़दीक आ जाती है। प्रियतम के रंग डालने से अपने आप को भूल गया हुआ भक्त सोचने लगता है—हाय, वह सुख क्या फिर मिल सकेगा? क्या वह अलबेला सांई फिर मिलेगा? फिर क्या उसके रंग की चोट खाने का सौभाग्य उसके

भाग में बदा है? कौन है जो उस अलबेले प्रियतम के पास पहुँचा सके? धन्य हैं वे सुहागिनें जो प्रिय के साथ एकमेक होकर फाग खेलती हैं; धन्य हैं वे जो उसकी मनभावती हैं और अभागिन है वह सखी जो ऐंचातानी में ही रह गई। प्रिय के अवर्णनीय रूप को प्रेम-दीवानी प्रेमिका कैसे समझावे? वह तो उसीमें समा गई, तन्मय हो गई है। कबीरदास इस फागलीला का— इस आनन्द-वसन्त केलि का अनुभव कर चुके थे। उनकी गवाही पर हम विश्वास कर सकते हैं कि वह साधारण फाग नहीं है। इस पृथ्वी में उसके साथ किसी और फाग की तुलना ही नहीं हो सकती। वह अनुभव करनेकी चीज़ है, अकथ कहानी है, बिरलों के नसीब में इस परम सुख का अनुभव बदा है—

रितु फागुन नियरानी हो,
कोई पिय से मिलावे।
सोइ सुन्दरि जाको पिया को ध्यान है
सोइ पिया की मनमानी।
खेलत फाग अंग नहिं मोड़े,
सतगुरु से लिपटानी।
इक सखियाँ खेल घर पहुँची
इक इक कुल अरुझानी।
इक इक नाम बिना बहकानी
ह्वै रहीं ऐंचातानी।
पिय को रूप कहाँ लगि बरनौं
रूपहिं मांहि समानी।

जो रँगे-रँगे सकल छवि छाके,
तन-मन सबहि भुलानी।
यों मत जाने यहि रे फाग है
यह कछु अकथ कहानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो,
यह गति विरलै जानी॥

रवीन्द्रनाथ ने भी भगवान् के इस आनन्द-केलि का आमंत्रण सुना था। उनकी गीतांजलि में यह भाव भरा पड़ा है। 'हे सुन्दर, तुम आज प्रातः काल आये थे। तुम्हारे हाथों में अरुण वर्ण का पारिजात था। सारी नगरी निद्रित थी, राह में कोई राही भी नहीं था। तुम आये और अपने सोने के रथ पर अकेले ही चले गये। सिर्फ एक बार रुक कर तुमने मेरी खिड़की की ओर करुणा-भरी आँखों से देखा था—हाँ, सुन्दर तुम आज प्रातः काल आये थे!—' ❋

❋ सुन्दर तुमि एसे छिले आजि प्राते
अरुण वरण पारिजात लये हाते
निद्रित पुरी पथिक छिल ना पथे
एका चलि गेल तोमार सोनार रथे;
बारेक थामिया वातायन पाने
चेये छिले तब करुण नयन पाते।
सुन्दर तुमि एसे छिले आजि प्राते। (गीतांजलि)

इसी प्रकार, 'अरि ओ अभागिन तुझे कैसी नींद आ गई थी जो प्रियतम के पास आने पर भी जगी नहीं। वह रात के सन्नाटे में आया था, हाथ में उसके वीणा थी। तेरे स्वप्न में उसने गम्भीर रागिणी बजा दी और तू सोती ही रही! हाय, जाकर देखती हूँ तो दक्खिनी हवा को पागल बनाकर उसका सौरभ अन्धकार में व्याप्त होकर प्रवाहित हो रहा है। हाय क्यों मेरी रात व्यर्थ चली जाती है, उस प्रिय को नज़दीक पाकर भी मैं क्यों नहीं पा सकती।'

से ये पाशे एसे बसे छिल
तबू जागि नि।
की घूम तोर पेये छिल हत भागिनि
एसे छिल नीरव राते,
वीणा खानि छिल, हाते,
स्वपन माझे वाजिये गेल
गंभीर रागिणी।
जेगे देखि दखिन हा ओया
पागल करिया
गन्ध ताहार भेसे बेड़ाय
आँधार भरिया।
केन आमार रजनी याय
काछे पेये काछे ना पाय
केन गो तार मालार परश
बुके लागे नि। (गीतांजलि)

यह लीला है। यह रहस्य या मिस्ट्री नहीं है। रहस्य शंका है, लीला समाधान। समाधान का समाधान कैसा ? भक्त का दावा है कि यह अनुभवगम्य है। जो साधक एक बार इसकी मस्ती से वाक़िफ़ हो गया वह आठों पहर मतवाला बना रहता है,—नहीं; वह आठों पहर की सम्पूर्ण कला को निचोड़कर उस का रस पीता है। वह आठों पहर की मस्ती से मस्ताना बना रहता है। ब्रह्म की छौल में वह जीवन धारण करता है। छौल अर्थात् आनन्द। वह भगवदानन्द में, अर्थात् भगवान की लीला में ही वास करता है। उसके लिए सत्य को पकड़ना आसान हो जाता है, क्योंकि वह साँच और काँच के ऊपर उठ जाता है। उसका जन्म और मरण का भ्रम भाग जाता है।

आठ हूँ पहर मतवाल लागी रहैं,
आठहूँ पहर की छाक पीवै।
आठहूँ पहर मस्तान माता रहै,
ब्रह्म की छौल में साध जीवै।
आंचही कहतु और सांचही गहतुहै,
कांच को त्याग करि सांच लागा।
कहै कब्बीर यों साध निर्भम भया,
जन्म और मर्न का भम भागा।

भगवान् के साथ की यह निरन्तर प्रेम-केलि ही कबीर की साधना के और उनके साहित्य के केन्द्र-बिन्दु में है। इसी को किसी और उपयुक्त शब्द के अभाव में पश्चिमी पण्डित मिस्टि-

सिज्म कहते हैं और इसी को ठीक-ठीक न समझने के कारण किसी हिन्दी साहित्यिक ने रहस्यवाद नाम दे दिया होगा। रहस्यवाद शब्द भ्रामक है। आधुनिक हिन्दी कविता में इस तत्त्व का उत्तम विकास श्रीमती महादेवी वर्मा की कविताओं में ही मिलता है।

[१३]

काव्य में अ-स्पष्टता

(प्रो० रामखेलावन)

वर्तमान हिन्दी कव्य की पृष्ठभूमि के रूप में आधुनिक भारतीय समाज का विश्रृङ्खल चित्र है। प्रायः समाज और साहित्य का संतुलित संगठन नहीं होता; कभी एक की वृत्तियों की प्रधानता दूसरे में और कभी दूसरे की प्रवृत्तियों की प्रमुखता पहलेमें पाई जाती है। अतः काल विशेष में स्थानीय और देश-गत कारणों से इन दोनोंके सम्बन्धमें विषमता उत्पन्न होती रहती है। तथा समाज और साहित्य की एकाकारिता कभी देखी न गई। किन्तु, दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध विछिन्न नहीं होता—संभव है, साहित्य समाज के वर्ग विशेष की भावना ही प्रतिफलित करे। मानव-कृत प्रयत्न में (बल्कि प्रत्येक कृति में) कार्य-कारण का सम्बन्ध अनिवार्य है, हो सकता है यह सम्बन्ध तात्कालिक फल के रूप में प्रकट न हो। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ध्यान रखते हुए अध्ययन करने से आधुनिक भारतीय समाज की विश्रृङ्खलता के मूल में परस्पर विरोधी भावनाओं का संघठन है। विभिन्न जातियों-उपजातियों की विभिन्नावस्था तथा अनेक संस्कृतियों के पारस्परिक

विरोध और संघर्ष के कारण विषमता आधुनिक समाज की आधार-भित्ति है। यह सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं राष्ट्रीय संघर्ष किसी सु-स्पष्ट निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचा है, सर्वत्र अस्पष्टता, अनिश्चितता का साम्राज्य है। अतः आज सामाजिक जीवन विछिन्न और अस्त-व्यस्त-सा दीख पड़ता है। इसी स्पष्टता के अभाव का दर्शन साहित्य क्षेत्र में भी अ-स्पष्ट रूप में मिलता है।

इस सामाजिक चित्र-पट पर सामाजिक भावनाओं का संक्षिप्त चित्रांकण आवश्यक है नहीं तो सम्पूर्ण प्रश्न को उसकी वास्तविक वस्तुस्थिति (Perspective) में देखा नहीं जा सकेगा। रीति-कालीन हिंदी कविता जन साधारण के भावों का तिरस्कार कर वर्ग-विशेष की भावनाओं के चित्रण और उसके नाना-विधान अपरूप सौंदर्य-साधन में लगी रही। अधिक की वस्तु न होकर वह अल्पांश का विषय रही; जन समुदाय साहित्य के प्रति उदासीन रहा। भारतेंदु काल में जन-भावना को शब्द-बोध हुआ और क्रमशः उपेक्षित लोक-भाव काव्य-साहित्य में प्रकाश पाने लगा। इस स्थान पर पहुंच कर यथार्थ (वास्तविक) और आदर्श (काल्पनिक) का विरोध स्पष्ट-सा होता प्रतीत होता है। वस्तुतः यथार्थ और आदर्श स्वयम् पूर्ण सत्य नहीं हैं, बल्कि हैं सापेक्ष गुण-निदर्शक। न तो कोई वस्तु यथार्थतः यथार्थ है और न कोई पूर्णतः आदर्श। इस प्रकार 'यथार्थ' वाद स्वयम् कठोर आदर्श है, जिसकी रपटीली भूमि पर टिक सकना यदि असम्भव नहीं तो

अत्यन्त कष्ट साध्य है अवश्य। यथार्थ के पोषक स्वयम् इसका तिरस्कार कर बैठते हैं—ऐसी मेरी धारणा है। यथार्थ और आदर्श की इस विवेचना का अर्थ अस्पष्टता का सापेक्ष विधान है, कारण स्पष्टता और यथार्थ का सम्बन्ध अक्षुण्ण है। अ-स्पष्टता स्वयं निरपेक्ष (Absolute) नहीं, एक वस्तु जो किसी के लिए अस्पष्ट है वह दूसरे के लिए स्पष्ट हो सकती है, अतः आवश्यकता है कि अ-स्पष्टता के भावों का विचार सर्वप्रथम किया जाय।

अस्पष्टता अधिकरण-निष्ठ (Subjective) ही नहीं वरन् पदार्थ-निष्ठ (Objective) भी है। अस्पष्टता का भाव हृदयंगम करने के लिए व्यक्ति-विशेष की मानसिक शक्ति और वृत्ति का ध्यान आता है, अतः हिन्दी काव्य की अस्पष्टता समझने के लिए हिन्दी पाठकों की बोध-वृत्ति पर ध्यान रखना आवश्यक है। हिंदी के अधिकांश पाठक मनोरंजन के विचार से साहित्य-क्षेत्र का परिचय प्राप्त करते हैं। अङ्गरेजी पढ़े-लिखे लोग अपना मनोरञ्जन उसी के साहित्य द्वारा करते हैं या गंभीर पाठक उसी के साहित्य द्वारा अपनी जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा मिटाते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि आज के प्रचलित विवादपूर्ण 'वादों' का तर्क-सम्मत विश्लेषण अंगरेजी में प्राप्त हो सकता है। वहाँ 'वादों' का उद्भव भावनाओं के घात-प्रतिघात, आलोड़न-विलोड़न के प्रत्यावर्त्तन रूप में हुआ; किन्तु यहां सामाजिक विछिन्नता के कारण इन 'वादों' का सामाजिक भावनाओं के साथ युक्तिसंगत कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकट नहीं होता, अतः जन-साधारण और प्राचीन

परिपाटी के विद्वानों की बोध वृत्ति और काव्य की अन्तर्निहित भावना में वैषम्य और अन्तर आ जाता है। पाठक की आत्मा काव्य की आत्मा में घुल मिल नहीं जाती और इस असम्पर्कता या अन्तर को ही 'काव्य में अ-स्पष्टता' संज्ञा मिली। इसका स्पष्ट अर्थ है कि सामाजिक भावना के पुष्ट होने और उपयुक्त पृष्ठभूमि के उपस्थित होने पर अस्पष्टता सुस्पष्टता में परिवर्तित हो सकती है, अथवा विपरीत अवस्था होने पर काव्य की स्पष्टता अस्पष्टता में परिणत हो जाती है।

काव्य में कवि शब्दों द्वारा भावनाओं के चित्र उपस्थित करता है। चित्रकार अपनी तूलिका से चित्रपट पर रङ्ग और कूची के द्वारा चित्र उतारता है। (फोटू की बात मैं नहीं करता, कारण Photographer में चित्र-लेखक की अन्तःवृत्ति नहीं रहती।) चित्र में सौंदर्य एवं चित्रित वस्तुओं की रूप-रेखा स्पष्ट हो सकती है; किन्तु चित्रकार की निहित भावना नहीं। काव्य में भी इसी प्रकार संगीतमत्ता एवं कलापूर्ण चित्रत्व का संतुलन होने पर भी सम्भव है कि कवि इस सीमा तक सफल होने पर भी अपनी भावना स्पष्ट नहीं कर सका हो। भाव-प्रकाशन की अ-क्षमता ही अस्पष्टता की भावना में सन्निहित है। अस्पष्टता की विभिन्न अवस्थाएँ हैं—संदिग्ध (Vague), अव्यक्त या द्व्यर्थक (Ambiguous) और अ-स्फुट (Obscure)।

कवि भावनाक्रांत होता है, उसका अन्तर भाव-प्रकाशन के लिए व्याकुल हो उठता है। कवि की यह मानसिक सहज-प्रवृत्ति उत्तेजनापूर्ण होते हुए भी प्रौढ़ नहीं रहती। इस सहज प्रवृत्ति की

प्रेरणा से वह अपनी भावनाओं के चित्र अङ्कित करता है; किंतु प्रौढ़ता के अभाव में उसकी कविता में संदिग्धता पाई जाती है। प्रौढ़ता के आविर्भाव के साथ ही साथ क्रमशः संदिग्धता मिटती जाती है। इसे दूसरे रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है। मानस के चेतन और अ-चेतन दो स्तर हैं। अ-चेतन स्तराश्रित भाव चेतन स्तर में आने की चेष्टा करते हैं।

अचेतन स्तराश्रित भावना चेतन-प्रदेश की भावना के साथ साहचर्य के नियमों के द्वारा सम्बद्ध होकर काव्य की प्रेरणा देती है। काव्य न तो पूर्णतः अचेतन-मानस का अजस्र भाव-प्रवाह है और न सचेतन मानस की क्रिया का फल। मानस के अ-चेतन स्तर से भावना निकलकर चेतन-स्तर पर अधिकार जमाते समय अपना स्वरूप निश्चित करती है। भावना का वही चित्र संगीत का साहाय्य ले भाषा की माध्यमिकता स्वीकार कर प्रकट होता है, अतः भाषा के द्वारा कवि भावना का चित्र उपस्थित करता है। भावना की सापेक्षिक तीव्रता और उत्तेजना के प्रभाव के कारण मानसिक और काल्पनिक चित्रों की चित्रमत्ता और रूप रेखा में अन्तर आता है। जिस मात्रा में चित्र कवि के मानस पटल पर स्पष्ट उतरेगा उसी अनुपात में स्पष्टता उसके द्वारा उपस्थित शब्द-चित्रों में रहेगी। कथन की स्पष्टता के लिए शब्द-चित्र उपस्थित करता हूँ:—

वह आता—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।

—निराला : भिक्षुक

यह आए दिन के बाजारों में और सड़कों पर दीख पड़ने वाले दृश्य का शब्द-चित्र है। कृश-काय भूखे भिखारी का फटी पुरानी झोली का मुँह फैलाना अद्भुत चित्रमत्ता का विषय उपस्थित करता है। चित्र न केवल अपनी वस्तुस्थिति में बल्कि व्यंजकता में भी स्पष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है। अब दूसरा चित्र सामने है—

गिरि का गौरव गाकर झरझर
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर

—पंत : पल्लव

कवि की मानस-दृष्टि के सामने झरते हुए झरने का चित्र है। 'झाग भरे निर्झर' से निर्झर का बरसाती होना अंकित होता है, अन्यथा शरत्कालीन गम्भीर निर्झर प्रवाह में 'झाग' का स्थान नहीं। इसके समक्ष 'मोती की लड़ियों से सुन्दर', रखकर

दोनों चित्रों की तुलना की जाए। एक ओर वर्षा का तूफ़ानी 'झाग भरा निर्झर' और दूसरी ओर 'मोती की लड़ियाँ': अतः चित्र ठीक अपने सुव्यवस्थित रूप में दृष्टि-पथ में नहीं आता, कारण 'निर्झर' का चित्र कवि के मानस में स्पष्ट रूप न धारण कर सका था और वह कागज पर उतर आया। इसे ही मैं काव्य की संदिग्धता मानता हूँ।

द्व्यर्थक कविता को शब्द-अर्थ-श्लेषका विकृत रूपान्तर मानना चाहिए। श्लेष में चमत्कार और सौष्ठव की प्रधानता तथा द्व्यर्थक काव्य में मानसिक व्यायाम की प्रचुरता प्रतीत होती है। कवि के भाव एकाकारिता और अप्रतिमता (Singularity) के कारण प्रभावशील होते हैं। यदि एक ही समय वह दो अर्थों पर अपना ध्यान रखता है तो कविता का एकत्व नष्ट हो जाता है। इस प्रकार कठिन मानसिक व्यायाम के द्वारा एक-आध पद्य की रचना हो सकती है किन्तु सफल कविता के क्षेत्र में पदार्पण करने की इच्छा रखने वाले कवि के लिए यह आत्म-हत्या तुल्य है। प्राचीन कविता में कुछ इसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। अलंकार की किसी पुस्तक में मैंने एक पद्य पढ़ा था जिसमें सूम और दानी का गुण-गान था। वर्ण्य विषयों के नाम देने के कारण उसकी अस्पष्टता कुछ मात्रा में कम हो गई थी। दृष्टकूट के पदों की अस्पष्टता क्लिष्टता के इसी आधार पर है। क्लिष्टता और अस्पष्टता में तात्विक विभेद होने पर भी पहले की उपस्थिति में दूसरे की विद्यमानता अवश्यम्भावी है। द्व्यर्थक कविता में कवि के अभिप्रेत अर्थ के प्रति पाठक आकृष्ट होगा ही, ऐसा

निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। वर्तमान कवियों में इस प्रकार के काव्य की प्रवृत्ति दीख कम पड़ती है। इस प्रकार की एक-आध कविता का उदाहरण स्वर्गीय महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने अपने निबन्ध 'आजकल के छायावादी कवि और उनकी कविता' में दिया है।

इसके पश्चात अस्फुट काव्य का स्थान आता है। 'संदिग्ध' और अ-स्फुट काव्य का अन्तर समझने के लिए वर्णित वस्तु के भौतिक आधार की ओर ध्यान देना पड़ेगा। आधार की स्थूलता के कारण शब्द-चित्र में स्पष्टता की मात्रा अधिक पाई जाने की सम्भावना अधिक है—यदि कवि के मानस-पटल पर वर्ण्य वस्तु का चित्र स्पष्ट उतर सका हो—और आधार की सूक्ष्मता के कारण कवि द्वारा प्रस्तुत चित्र अपेक्षाकृत कम स्थूल अर्थात् सूक्ष्म (अस्पष्ट) होगा। भावना की सूक्ष्मता का सापेक्षिक प्रभाव कविता में प्रकट ही होगा। अनुभूति के चित्रों में कवि को अ-स्पष्ट होना ही पड़ता है, अतः यह स्पष्ट है कि स्थूल वस्तु अथवा भाव का स्पष्ट चित्रण काव्य में न रहने पर उसे संदिग्ध और भावना प्रधान कविता में अनुभूति की सूक्ष्मता के कारण अस्पष्टता रहने पर उसे अस्फुट काव्य कहते हैं। मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि अनुभूति जितनी गहरी होगी उसी मात्रा में उसकी व्याकृति (Analysis) कठिन होगी, कारण उसकी व्याप्ति संमिश्र हो जाती है। संदिग्ध और अस्फुट काव्य के आभ्यन्तर में आधार की स्थूलता अथवा सूक्ष्मता है। उदाहरण रूप में कहा जा सकता है कि आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध प्राकाश्य रूप में प्रकट नहीं होता,

अतः उनके बीचके साक्षात्तकार की अनुभूति अत्यन्त सूक्ष्मविभाव के रूप में होती है; उसके चित्रण में अस्फुटता (Obscurity) आवश्यक है, अनिवार्य है; इसका कोई निराकरण नहीं। उदाहरण देकर अस्फुट काव्य का विश्लेषण उपस्थित करने की चेष्टा करूँगा—श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता का अंश है:—

चाँदनी मेरी अमा का, भेंट कर अभिषेक करती;
मृत्यु-जीवन के पुलिन दो आज जागृति एक करती;
हो गया अब दूत प्रिय का
प्राण का संदेश स्पंदन !

अमा और चाँदनी परस्पर विरोधिनी अवस्थाएँ हैं, एक के अभाव में दूसरे का भाव और दूसरे के अभाव में पहले का भाव है। पाठक—देश, काल और पात्र की लघुसीमा में आवृत पाठक—इस मिलन को कवि के विकृत मानस का परिणाम समझ बैठता है। विरह की अमा में मिलन की चाँदनी क्या नहीं खिलती? निराशा के अन्धकार में क्या आशा-दीप प्रज्वलित नहीं होता ? आत्मा की तमसावृत आकांक्षा में शुभ्रजीवन का संदेश बीज रूप में निहित है। आत्मा की विरह दिशा में मिलन का अंकुर छिपा है। बीज में वृक्ष है; अमा में चाँदनी। मृत्यु और जीवन में कोई अन्तर नहीं; जिसे जग मत्यु कहता है वह नवीन जीवन का प्रारंभ है, ऐसा दार्शनकों का मत है। जीवकी जागृति मृत्यु और जीवन को विछिन्न न मान कर एक सूत्र में पिरोती है। कवि की यह अ-स्पष्टता अनुभूतिकी गहनता और कल्पना की सूक्ष्मता के कारण है।

अस्पष्टता के विविध रूपों की विवेचना के बाद इसके कारणों

का अन्वेषण युक्तिसंगत होगा। विभिन्न रूपों की विवेचना द्वारा स्पष्ट होता है कि अस्पष्टता के कई कारण हैं : चाहे कवि के समक्ष भावों के चित्र अ-स्पष्ट रूपमें आएँ अथवा व्यक्तिकरण का माध्यम इतना अक्षम हो कि उनके मानस-पटल पर उतरे स्पष्ट चित्र भी उसकी कविता में स्पष्ट न हो सकें। इस स्थान पर यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्थान के विस्तार-सामर्थ्य के अभाव में कवि संकेतों का आधार लेता है। कवि की कविता समझने के लिए उसकी विचार-धारा, संस्कार (Pattern) और उसकी शैली का परिचय आवश्यक है। संकेतों की अपने को स्पष्ट करने की शक्ति, और पाठकों की उन संकेतों के समझने की शक्ति पर अस्पष्टता का आधार है। कवि के लिए इतना कहा जा सकता है कि उसे संकेत इतनी मात्रा में देना चाहिए, जिसके अभाव में उसकी कविता पहेली न बन उठे। कवि की अक्षमता इस प्रकार की अस्पष्टता का कारण है।

कवि की विचार-धारा भावावेश की अवस्था में उन्मुक्त रहती है। कवि के मानस में भावना आती है और वह उस भावना के साथ अपनी बुद्धि के सामंजस्य द्वारा सहसा परिणाम पर पहुँच जाता है, बीच की विवेचनात्मक विचार-धारा उसके मस्तिष्क में ही रह जाती है, पाठक के सम्मुख नहीं आती, फल यह होता है कि कवि की मध्य-विचार-धारा से अपरिचित उसके क्रमिक रूप को नहीं देख पाता और उसे कविता सहज बोधगम्य प्रतीत नहीं होती।

'मगस को बाग में जाने न दो
कि नाहक खून परवानों का होगा।'

'मधु मक्खियों को बाग में जाने न दो नहीं तो व्यर्थ ही परवानों का खून होगा!' साधारण पाठक मधुमक्यियों के बाग में जाने और परवानों की हत्या में कोई सम्बन्ध नहीं देखता किन्तु मधुमक्खियों के कारण मोम और मोम से मोमबत्तियाँ बनती हैं। और शमा परवानों के खून का कारण है, इसे कौन अस्वीकार करेगा? क्या इस दशा में मधुमक्खियों और परवानों के जलने में सम्बन्ध नहीं?

विषय की गम्मभीरता, भावाकुलता की शक्तिमत्ता, अनुभूति की जटिलता के कारण भी कविता अ-स्पष्ट होती है। इस प्रकार की अ-स्पष्टता का उदाहरण दिया जा चुका है। इसके सम्बन्ध में इतना कहना अलम् होगा कि अनुभूति की जटिलता और भाव-गम्भीरता के कारण कवि द्वारा दिये गए संकेत स्वतः स्पष्ट नहीं रहते। उन्हें स्पष्ट रूप में हृदयंगम करने के लिए पाठक में भी कवि के अनुकूल उसी मात्रा में विदग्धता और भावाकुलता होनी चाहिए; जबतक वह कवि की मनोदशा में नहीं पहुँचे, जबतक वह उसकी अन्तर्वीणा के साथ एकात्मा का अनुभव नहीं करे, तबतक कविता उसके समीप अ-स्पष्ट रहेगी, अबोध-गम्य रहेगी—मेरा अपना विश्वास है।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—'अजी, मुझे क्या पता कि किस आनन्ददायी राग से सुखाविल होकर उत्सुक यौवन

जग पड़ा है। आज आम्र-मंजरी की सुगन्धि, नव पल्लवों की मर्मर ध्वनि और चन्द्र-किरणों से अम्बर सिञ्चित हो उठा है। वायु गन्ध से कातर है, मैं किसके स्पर्श से पुलकित हो उठा हूँ।'❀

कवि को कौन बतलाए किसका पुलकित स्पर्श है, किसके स्पन्दन का कथन उसके स्वरों में जग पड़ा है?

कुछ कवि पाठक पर आतंक जमाने और अपनी कवित्व शक्ति का सिक्का जमाने के लिए कुछ ऐसी बे-मतलब बातें करते हैं कि साधारण पाठक अपनी नासमझी के कारण उस प्रकार की कविताओं की श्रेष्ठता स्वीकार करले। इस कोटि के अनेक उदाहरण आजकल की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं में मिलेंगे। इस प्रकार की आतंकवादी कविताओं के मूल में कवि-हृदय-स्थित हीनता के भाव (Inferiority Complex) का प्राचुर्य है, वह अपनी असमर्थता अचेतन रूपसे प्रकट करता है।

❀ ओ गो जानि ना की नन्दन रागे
सुखे उत्सुक यौवन जा।
आजि आम्र मुकुल-सौगंध्ये
नव - पल्लव मर्मर छंदे,
चंद्र-किरण सुधा-सिंचित अम्बरे
अश्रु सरस महानन्दे
आमि पुलकित कार परशने
गंध - विधुर समीरणे।—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सुख शान्ति तृप्ति छवि के कल लीक में तिरोहित
नव प्राण रूप पाऊँ
होकर विलीन तुममें मूर्छा निधूम मोहित
तुम-सा बनूँ—बनाऊँ—अंचल अपराजिता।

(कवि ने स्वयं विराम-चिन्ह का प्रयोग नहीं किया है, अतः पाठक मुझे क्षमा करेंगे)। 'लीक' का अर्थ मर्यादा या सीमा लेने से सुख-शान्ति-तृप्ति का तिरोहन संभव सा प्रतीत होता है; किन्तु 'प्राण रूप पाऊँ' का संकेतार्थक अर्थ स्पष्ट नहीं होता। प्राण का रूप पाऊँ या रूप का प्राण पाऊँ—साफ नहीं होता। प्राण का रूप संभव नहीं और यदि रूप का प्राण कवि का अभियुत अर्थ है तो उसे 'सुख-शांति-तृप्ति-छवि के कल लीक में तिरोहित' होने की आवश्यकता क्या है? 'होकर विलीन तुममें' 'तुम सा बनूँ' का भाव-चित्र तो उतरता किन्तु 'मूर्छा निधूम मोहित' में आकर चित्र इतना अव्यवस्थित हो जाता है कि चित्र बनता ही नहीं, तथा अन्त में 'बनाऊँ' आकर तो और गुड़ गोबर कर देता है। स्वाभाविक रूप में प्रश्न हो सकता है 'क्या बनाऊँ?' तुम्हें अपने सा बनाऊँ या स्वयं तुम-सा बनूँ। यदि तुम्हें अपना सा बनाऊँ समझ लिया जाय तो इस प्रकार का कोई संकेत यहाँ प्राप्य नहीं और यदि स्वयं 'तुम सा बनूँ' यह माना जाय तो 'बनूँ' की उपस्थिति में बनाऊँ व्यर्थ है तथा इसकी शक्ति कम कर देता है। स्पष्टतः ज्ञात होता है कि कवि अपना आतंक जमाना चाहता है। यहाँ कवि पाठकों की बोध-वृत्ति का उपहास कर रहा है।

काव्य में अ-स्पष्टता क्या उपेक्षणीय है, क्या हेय है? आज

पाठक और कवि में सामंजस्य का अभाव है, अतः पाठकों का कथन है :—

'मजा कहने का तब है जब एक कहे औ' दूसरे समझें,
अपना कहा गर आप ही समझे तो क्या समझे।'

प्रसाद गुण वैसे पाठकों की दृष्टि में काव्य का सब से बड़ा गुण है। वैसे पाठकों से मुझे कुछ कहना नहीं। काव्य में एक सीमा तक अ-स्पष्टता आवश्यक है, अपेक्षित है, ऐसी मेरी धारणा है। 'रीयलिज़म' यथार्थवादिता का संबन्ध 'रियलाइजेशन (Realisation) अनुभूति से है न कि वस्तु की यथार्थस्थिति से। दिन में सूर्य अपनी पूर्ण शक्ति के साथ चमकता है। छाया और प्रकाश में केवल मात्रा का अंतर भर रहता है, किन्तु चन्द्र ज्योत्सना में ऐसा नहीं। अंधकार और प्रकाश का वास्तविक भेद चाँदनी रात में ही मालूम पड़ता है। कुँजों की सघन हरीतिमा में ज्योत्सना की झिलमिल रहस्यपूर्ण है, और करती है औत्सुक्य की सृष्टि। यह अस्फुटता यह अस्पष्टता मोहकता की जननी है जिसके कारण मानव-मानस कौतूहल निवारणार्थ रहस्यमयी सृष्टि भेदना चाहता है। कुछ इसी प्रकार की बात काव्य के लिए कही जा सकती है। अस्पष्टता से कवि पाठक की कल्पना उद्वेलित करता है और उसी की कल्पना जागरित होकर कवि की आत्मा के साथ एकात्मता प्राप्ति का प्रयास करती है। किन्तु अस्पष्टता का यह अर्थ नहीं कि कवि पहेलियाँ बुझाए या जान-बूझकर पाठकों पर आतंक जमाने के लिए वितंडवाद की सृष्टि करे। अस्फुटता का समादर काव्य-क्षेत्र में उपेक्षणीय दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिये।

[१४]

आधुनिक काव्य के आलोचक

(प्रो० नगेन्द्र)

पहला चरण

'इनके (छायावादी कवियों के) भाव झूठे, इनकी भाषा झूठी, इनके छन्द झूठे, इनके अलंकार झूठे ।'

आधुनिक काव्यका आरम्भ १६२२-२३ से समझना चाहिए जब प्रसाद, पंत और निराला की कविताएँ प्रभूत संख्या में प्रकाशित होकर हिन्दी जनता का ध्यान बरबस आकर्शित करने लग गई थीं। यह द्विवेदी-युग का अन्तिम चरण था। इस समय काव्य का अधिनायकत्व उन लोगों के हाथ में था जो दृढ़ नैतिक एवम् शास्त्रीय मानों को मूल्यांकन का साधन बनाये हुए थे—द्विवेदी जी स्वयम्, पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन इनमें मुख्य थे। ये विद्वान सामाजिक क्षेत्र में भारतीय नीति-शास्त्र को जिस दृढ़ता से पकड़े हुए थे, काव्य-क्षेत्र में भारतीय साहित्य-शास्त्र का आधार भी इनका उतना ही दृढ़ था। अभी विदेशी रीति-नीति से इनका सम्पर्क नहीं था, और जो था भी केवल प्रतिक्रिया के

रूप में, अतएव अपने को पूरे बल से पकड़े रहने के कारण, साथ ही दृष्टि-क्षेत्र सीमित होने से, इन उस्तादों में अतर्क्य आत्म-विश्वास आगया था, जिसका उपयोग वे कठोरता से करते थे। ऐसी परिस्थति में, स्वभावतः अपनी हीनता से संकुचित छाया-वाद का जन्म हुआ। छायावाद से अन्तर्बाह्य-निर्माण में विदेश का प्रभाव अति-स्पष्ट था, अतः इस नवजात शिशु को दोग़ला समझकर नीति-विशारदों ने चारों ओर से उस पर प्रहार किया। बस उसके जन्म, उसके शरीर, उसके रूप-रंग, उसकी वसन-सज्जा सभी को एक साथ अवैध घोषित कर दिया गया। उस समय छायावाद का रूप अनिश्चित था, उसमें अति हो रही थी। यह सत्य है, परन्तु यह आत्म-विश्वासी विद्वान उलटे उस्तरे से उसकी हजामत बना रहे थे; इसमें भी सन्देह नहीं। अंगरेज़ी रोमाण्टिक कविता (जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव छायावाद पर पड़ रहा था) के स्वरूप, उसकी अनुभूति-अभिव्यक्ति एवं उसके महत्व से ये लोग अपरिचित थे, और पुराने साहित्य-शास्त्र के स्थूल नियमों द्वारा उसे परखने का अनुचित प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए पंत की मधुर कोमल-कला में, प्रसाद की गहरी जिज्ञासा-मयी अनुभूति में अथवा निराला के निर्मुक्त कल्पना प्रभा में उन्हें कोई सौन्दर्य न दिखाई दिया, यह आश्चर्य की बात नहीं। इस युग में छायावाद की पीठ थपथपाने वाले आलोचक केवल मिश्रबन्धु थे, जिनकी आलोचनात्मक दृष्टि चाहे जैसी अस्थिर रही हो, पर व्यापक अवश्य थी, विदेशी-साहित्य के अध्ययन से उनके मन में उदारता आगई थी, इसी कारण वे नवीनता और

विविधता का स्वागत करने की क्षमता रखते थे। फिर भी आधुनिक काव्य की आलोचना का रूप अपने शैशव-काल में पूर्णतया भ्रान्त रहा।

दूसरा चरण

'छायावाद को कविता में सबसे खटकने वाली बात उसके भावों की अप्रासादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है, उसका रहस्य मान लेना सब के लिए सुगम नहीं।...पर इस कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं है। समय के प्रभाव से जब यह प्रवाह संयत प्रणालियों में चलने लगेगा, तब हिन्दी कविता का यह नवीन विकास बड़ा ही मनोरम होगा।'

इसके उपरान्त आचार्य शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी ने आलोचना क्षेत्र में पदार्पण किया। इस समय तक छायावाद अपनी जड़ें जमा चुका था, उसका यौवन अपनी रंगीनी से जगमगा उठा था—'पल्लव' 'परिमल', 'आंसू' प्रकाशित हो चुके थे। फिर भी अभी वह नव-शिक्षितों की ही वस्तु थी, पण्डितों की नहीं। पण्डितों का भाव उसके प्रति स्नॉबरी का ही था। यह भावना मूर्त्तिमंत हो उठा थी आचार्य शुक्ल में, जिन्होंने बहुत शीघ्र ही इस युग की आलोचनात्मक शक्तियों को अपने में केन्द्रित कर लिया था। शुक्ल जी की प्रतिभा अपरिमेय थी, उनकी दृष्टि में अद्भुत गहराई, पकड़ में ग़ज़ब की मज़बूती और प्रतिपादन में अपूर्व प्रौढ़ता थी। साथ ही उन्होंने पाश्चात्य एवं पौर्वात्य

साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन किया था, अतः उन्होंने जो छायावाद पर प्रहार किये वे काफी समझ-बूझ कर किये। छायावाद पर पड़े हुए बाह्य-प्रभावों के विषय में वे एकदम निर्भ्रान्त थे—उन्होंने विदेश की रोमाण्टिक कविता, सौन्दर्य-शास्त्र, अभिव्यजंनावाद, और बंगला के रवीन्द्रनाथ के प्रभावों का अपने ढंग से विवेचन किया। शुक्ल जी ने स्वदेश-विदेश की आलोचना-पद्धतियों का मनन करने के उपरान्त अपने काव्य-सिद्धान्त स्थिर किये थे, जिन पर वे अन्त तक अटल रहे। ये सिद्धान्त यद्यपि अब तक के सभी सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक और तर्क-संगत थे परन्तु इन का मानसिक आधार नैतिकता के ऊपर ही टिका हुआ था। कारण यह कि शुक्ल जी के व्यक्तित्व का निर्माण बहुत कुछ सुधार-युग में हो चुका था—अतः उन के ये संस्कार विदेशी शिक्षा-दीक्षा के बीच भी जड़ पकड़े रहे। यहां यह स्वीकार करना उचित होगा कि नीति (शिव) का मनोविज्ञान (सत्य) एवं सौन्दर्य-शास्त्र (सुन्दर) के साथ जितना सामजंस्य सम्भव था, उतना शुक्ल जी ने कोमलता से एक मर्मज्ञ आचार्य की भाँति किया। फिर भी छायावाद तो एकदम अनीति (?) की राह पर था, वह तो काव्य को काव्य के लिए मानता था, अतः आचार्य मरते दम तक उससे समझौता न कर सके। इसके अतिरिक्त कुछ और भी आनुषङ्गिक कारण थे :

(१) शुक्ल जी काव्यानन्द को एक निश्चित, साधारण (Normal) अनुभूति मानते थे, इसके विपरीत छायावाद

सौन्दर्यानन्द को एक स्वतन्त्र एवं असाधारण अनुभूति मानता था।

(२) शुक्ल जी काव्य के क्षेत्र में भी सगुणोपासक थे, वे व्यक्त एवं मूर्त अनुभूति को ही महत्व देते थे, परन्तु छायावाद में अमूर्त एवं अर्धव्यक्त अनुभूतियों का विशेष मान था, उस में अवचेतना की प्रधानता थी।

(३) शुक्ल जी का दृष्टिकोण एकांत बौद्धिक और विवेक सम्मत था, छायावाद बौद्धिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, इसमें रहस्य और अद्भुत की जिज्ञासा थी जो कुछ अंशों में अवश्य विवेकशीलता की समझ से बाहर थी।

(४) शुक्ल जी कवि-शक्ति के पूर्ण-विकास के लिए जीवन-काव्य को ही उपयुक्त मानते थे; छायावाद स्फुट-गीतियों का भण्डार था।

(५) छायावाद की अभिव्यञ्जना में भी असाधारणता (Abnormality) विशेषकर लक्षणा का दुरुपयोग देखकर वे चिढ़ गये थे।

बाद में समय का प्रमाण-पत्र मिलने के उपरांत आचार्य की दृष्टि तो बदली परन्तु दृष्टि-कोण नहीं बदला। अतः छायावादी कवियों की प्रशंसा भी उन्होंने अपने सिद्धान्तों के ही अनुसार की। उनकी अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति को ही अधिक दाद दी (ठीक जैसा सूर के साथ किया है)। यही उनका विश्वास था, यही उनकी शक्ति थी। शक्ति सर्वांगीण नहीं होती, वह सर्वत्र

ही अपना एक-सा प्रभाव नहीं दिखा सकती। इस रूप में उसका देखना भी भूल है—उसकी तो घनता (Volume) देखिये। आज यही बात न सोचकर हम लोग घनीभूत-पाण्डित्य उस आचार्य को रिपवान विंकिल आदि उपाधियाँ प्रदान कर अपनी कृतज्ञता का परिचय दे रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप में चाहे शुक्ल जी ने आधुनिक काव्य का मार्गविरोध किया हो, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उनका प्रभाव स्वस्थ ही रहा। निराला और प्रसाद जैसे शक्ति-स्रोतों से निस्सृत इस छायावाद प्रवाह को उचित गति और स्थिर वेग देने के लिये आचार्य शुक्ल जैसे चट्टान की ही आवश्यकता थी।

बा० श्यामसुन्दरदास में समझौते की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है—इसका कारण है उनका अपेक्षाकृत विस्तृत कार्य-क्षेत्र। बाबू साहब ने कृपा-पूर्वक इन कवियों का उल्लेख अपने इतिहास में किया और बहुत ही शिष्ट एवं विवेकयुक्त शब्दों में अपना आक्षेप भी व्यक्त किया: 'छायावाद की कविता में सबसे खटकने वाली बात उसके भावों की अप्रासादिकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान लेना सबके लिये सुगम नहीं है। दार्शनिक सिद्धांतों की अनुभूति भी सब का काम नहीं।' बाबू साहब का यह दृष्टिकोण उस समय के भ्रान्त दृष्टिकोण का दर्पण है। सचमुच उस समय तक आलोचक छायावाद और रहस्यवाद के बीच अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके थे—उन्हें यह भी निश्चित नहीं था कि दोनों में अन्तर है भी या नहीं। प्रायः छायावाद को रहस्यवाद से एकरूप करते हुए, अथवा

साधना और भावना के रहस्यवाद का अन्तर न समझते हुए वे लोग उसको विकृत रूप में देख रहे थे। हरिऔधजी लिखित 'नीहार' की भूमिका इसका प्रमाण है। साथ ही कवि स्वयं भी रहस्यवादी आवरण को मोहपूर्वक धारण करना चाहते थे। सचमुच यह भ्रम बहुत दूरतक चला है। अभी कुछ दिन पूर्व ही अपने एक रहस्यवादी मित्र को यह कहते हुए सुनकर मैं दंग रह गया 'आपको कैसे मालूम है कि हमारे जीवन में साधना नहीं है ?' ऐसी दशा में उस समय के विद्वान् जो काल सीमाओं से आबद्ध थे, यदि इन रेखाओं को स्पष्ट न कर सके तो क्या आश्चर्य है ?

इन्हीं दिनों बख्शीजी भी साहित्य-क्षेत्र के मध्य में आसीन थे। बख्शीजी का विदेशी साहित्य का व्यापक अध्ययन था। वैसे तो यह विशेषता पिछले दो विद्वानों में भी थी, परन्तु उनकी अपेक्षा बख्शीजी एक क़दम और आगे बढ़ गये थे। उन्होंने विदेशी साहित्य की कल्चर (Culture) को भी ग्रहण कर लिया था—इस कारण उनकी दृष्टि उदार थी--उसमें स्नॉबरी नहीं रह गई थी। उन्होंने छायावाद के काव्य-गुण को पहचानते हुए ही उसका आदर किया, उसको आश्रय मात्र नहीं दिया। परन्तु छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर का स्वरूप बख्शीजी भी व्यक्त न कर सके, यद्यपि उसके अस्तित्व के विषय में इन्हें कोई भ्रम नहीं था। इस प्रकार दूसरे चरण में भी छायावाद की रूप रेखा स्पष्ट न हो सकी, उसका उचित मूल्यांकन तो दूर रहा। इस समय तक केवल एक ही लेख ऐसा लिखा गया था जिसका महत्व आज भी

अक्षुण्ण है, यह थी स्वयं कवि पन्त की लिखी हुई 'पल्लव' की भूमिका, जिसमें छायावाद के बाह्य उपादानों की—शब्द, व्याकरण, छन्द आदि की सुलझी हुई मौलिक व्याख्या थी। हिंदी का आलोचक शब्दों की केवल अर्थ-व्यञ्जना से ही परिचित था, पंतजी ने हिंदी में पहली बार उनकी स्वरव्यञ्जना (Expressiveness of the sound) के रहस्यों का विवेचन करते हुए सौन्दर्यालोचन में मौलिक श्री-वृद्धि की। छायावाद की कला के विवेचन में यह भूमिका सदैव ही आलोचकों की पथ-प्रदर्शिका रही है।—अंतरात्मा का विश्लेषण अब भी अछूता था।

तीसरा चरण

'इस छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक अस्तित्व और गहराई है।'

छायावाद अब एक व्यापक प्रभाव था। उसका जादू हरिऔध और मैथिलीशरण के सर पर चढ़कर बोल रहा था। अब उसे आलोचकों की कृपा-कटाक्ष की अपेक्षा नहीं थी। अब तो आलोचक स्वयं उसी के सहारे अपनी शक्ति आज़माने की अभिलाषा करते थे। प्रसाद और पंत की सर्व-मान्यता असंदिग्ध थी, प्रसाद की उनकी करुण अनुभूति के कारण और पंत की उनकी सूक्ष्म-कोमल माधुरी एवं कला-विलास के कारण। महादेवी ने गीति-शैली को

अपना लिया था--अनसधे लोक-गीतों के ढाँचे में नवीन भावना और नया रूप-रंग भरकर उन्होंने हिन्दी-संसार को मोह-मुग्ध कर लिया था। निराला का स्थान इस समय तक संदिग्ध था, उनकी अबाध प्रतिभा एवं एकांत-विरोधी स्वर अभी लोगों के हृदय में नहीं बैठ सके थे—यद्यपि कुछ लोग आतंकित अवश्य हो गये थे। तभी श्री० नन्ददुलारे वाजपेयी का शुभागमन हुआ। हिन्दी का यह पहला आलोचक था जिसने निर्भीक और निर्भ्रान्त होकर छायावाद के महत्व को स्वीकृत और अधिष्ठित किया। वाजपेयीजी ने छायावाद का पृथक रूप देखा और प्रसाद एवं निराला की आलोचना करते हुए उसकी मानसिक भूमिका का विश्लेषण किया। वाजपेयीजी गम्भीर आलोचक हैं, उन्होंने गहरे में जाकर छायावाद के अन्तर्तत्त्वों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया, और उनके फल-स्वरूप (यद्यपि बहुत बाद में) कुछ स्थाई तत्त्व भी प्राप्त हुए।

(१) आधुनिक छायावादी दृश्यमान मानव-जीवन को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झाँकी देखते हैं। रहस्यवाद के दो रूप हैं--एक परोक्ष (सूफ़ी) रहस्यवाद, दूसरा प्राकृतिक (अपरोक्ष) रहस्यवाद। आज का रहस्यवाद प्रायः दूसरे प्रकार का ही है।

(२) छायावाद की सौन्दर्य-कल्पनाएँ प्रधानतः अशरीरी हैं।

परन्तु इनके विवेचन में यह दोष था कि इन्होंने छायावाद के ऊपर दार्शनिक आवरण इतना अधिक चढ़ा दिया कि न तो ये स्वयं ही अपना आशय बिलकुल स्पष्ट कर सके और न छाया-

वाद ही उस को वहन कर सका। इसका कारण यह था कि इन्होंने छायावाद की अधिकाँश मूल प्रवृत्तियों का उद्‌गम प्रसाद जी की तरह, भारतीय दर्शन को ही माना, विदेशी रोमाण्टिक स्कूल, और इस युग की सामाजिक कुण्ठाओं का (विशेष कर सैक्स-सम्बन्धी) प्रभाव ये उचित मात्रा में स्वीकार न कर सके। इसके अतिरिक्त कला पक्ष में इन्हें जैसे कुछ कहने को ही नहीं था।

इनके कुछ समय बाद ही अपनी भावुकता के भाव से दबे हुए शान्तिप्रिय आये। ये सीधे कवि-लोक से आ रहे थे, कुण्ठित परिस्थितियों ने इनकी वृत्तियों को एकदम अन्तर्मुखी कर दिया था। अतः इनकी प्रभाव-ग्राहिणी शक्ति अत्यधिक तीव्र और उसके परिणाम स्वरूप इनकी भाव-प्रतिक्रियायें सूक्ष्म और नुकीली हो गई थीं। छायावाद के अनुभूति-पक्ष का इन्होंने मार्मिक विवेचन किया और बहुत कुछ इनकी ही कृपा से सबसे पहले हिन्दीवाले छायावाद की उर्मिल भावनाओं एवं सौन्दर्य-चित्रों को समझ सके। किसी लेखक ने, शायद आचार्य जानकीवल्लभ ने, इनकी आलोचना को गीतमयी (Lyrical) कहा है। मैं समझता हूँ उसका इससे अधिक उपयुक्त विवेचन नहीं हो सकता। बस यही उनकी शक्ति है और यही सीमा—लिरिकल होने के कारण शान्तिप्रिय जी की भावनाएँ तरल हैं—यह उनकी शक्ति है, परन्तु उनके विचार भी उतने ही तरल हैं, यह उनकी सीमा है। इसलिए शान्तिप्रिय जी आधुनिक युग के काव्य, विशेषकर छायावाद के रस का आस्वादन तो करा सके लेकिन उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके।

उपर्युक्त दोनों विद्वानों की आलोचना रोमाण्टिक आलोचना थी—हिन्दी में अभी वह समय नहीं आया था कि लोग रोमांटिक कविता के साथ रोमांटिक आलोचना को भी समझ और पढ़ सकें। कविताके विषय में तो उनकी परम्परागत धारणा पराजय स्वीकार कर चुकी थी, परन्तु समालोचना भी कविता की भांति दुरूह हो वह वे एकदम बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे। अतएव छायावादी आलोचना या उड़ती आलोचना कहकर पण्डित-समाज उसकी उपेक्षा कर रहा था। इसी समय कुछ आगे-पीछे शास्त्रज्ञ पण्डितों की एक टोली भी इस ओर मुड़ी। इनमें पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय और पं० कृष्णशंकर शुक्ल मुख्य थे। हजारी-प्रसाद जी एकदम क्लासीकल विद्वान हैं—उनका संस्कृत साहित्य का अध्ययन गहन और विस्तृत है—साथ ही उनको शान्तिनिकेतन के साहित्यिक वातावरण में रहकर अपने पाण्डित्य का संस्कार करने का अवसर भी मिला है—अतएव प्राचीन और नवीन दोनों के उचित संयोग से द्विवेदी जी की आलोचना की आधार-भूमि अत्यन्त दृढ़ हो गई है। आज से ६-७ वर्ष पूर्व इन्होंने 'विशाल भारत' में नवीन काव्य-ग्रन्थों की आलोचना करते हुए आधुनिक काव्य का विवेचन किया था। यह विवेचन परिमाण में यद्यपि अत्यन्त अपर्याप्त था, परन्तु पिछले दोनों आलोचकों की अपेक्षा पुष्ट एवं सुथरा था—साथ ही शास्त्रीय होने के कारण हिन्दी पाठकों पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा—और लोग सोचने लगे कि छाया-वाद शास्त्र-सम्मत भी है। वास्तव में द्विवेदी जी की प्रतिभा का

विकास बाद में हुआ—और उनका क्षेत्र भी कुछ बदल ही गया—अतएव आधुनिक हिन्दी काव्य पर उनका आभार अपेक्षाकृत कम है। तभी बाबू गुलाबराय ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया। बाबूजी हिन्दी के पुराने विद्वान् हैं—एकदम उत्तर-द्विवेदी-कालीन! वे उस समय से बहुत पहले ही दर्शन, निबन्ध एवं रस-शास्त्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे—अतः उनके वक्तव्यों को लोगों ने श्रद्धा से पढ़ा। बाबूजी ने छायावाद के दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करने में यथेष्ट योग दिया। उनका (शायद इन्दौर साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा हुआ) 'हिन्दी कविता में रहस्यवाद' शीर्षक लेख आधुनिक काव्य के विचार-पक्ष का प्रौढ़ समर्थन था—आधुनिक कवियों की अनन्त और ससीम विषयक जिज्ञासा की वह एक अचूक सफ़ाई थी। उसके कुछ दिन बाद फिर उन्होंने अपने सुबोध इतिहास में नवीन कविता-धारा की सुलझी और विस्तृत व्याख्या उपस्थित की जो अपना पृथक अस्तित्व रखती है।

आधुनिक काव्य की पूर्ण प्रतिष्ठा तब हुई जब कृष्णशंकर शुक्ल ने अपने इतिहास में उसका अत्यन्त सहृदयता-पूर्वक विवेचन किया। यह ठीक है कि कृष्णशंकरजी न तो छायावाद का रूप ही स्पष्ट कर पाये हैं और न नवीन कविता की अन्य चिन्ता-धाराओं का ही सम्यक विश्लेषण कर सके हैं—(प्रवृत्तियों का विश्लेषण उनके इतिहास की सबसे बड़ी त्रुटि है) परन्तु चिरउपेक्षित आधुनिक कवियों की प्रतिभा को स्वीकृत करने वाले शुक्लस्कूल के ये पहले विद्वान् थे—पृथक रूप में प्रसाद, पन्त और निराला

की कविता की इन्होंने शास्त्रीय ढङ्ग पर विस्तृत आलोचना की और इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित-समाज में इन्हें आदर प्राप्त कराने का श्रेय बहुत कुछ कृष्णशङ्कर जी को ही है। इस प्रकार तीसरे चरण में एक बड़ी मंजिल तय हुई। आधुनिक काव्य पर काफ़ी सोचा और समझा गया। नन्ददुलारे वाजपेयी ने उसके मानस-पक्ष का, और शान्तिप्रिय द्विवेदी ने हृदय-पक्ष का सुन्दर और प्रौढ़ विवेचन किया। कला-पक्ष भी उपेक्षित न रहा—पन्त जैसे प्रतिनिधि कलाकार की सौन्दर्य दृष्टि का विश्लेषण हुआ। सत्येन्द्रजी ने गुप्तजी की कला का सूक्ष्म विवेचन किया और श्रीयुत सुधांशु ने नई कविता की अभिव्यञ्जना-पद्धति की क्रोचे के आधार पर व्याख्या की। संक्षेप में आलोचना के तीसरे चरण का उत्तराधिकार यह है —

१. हिन्दी में रोमांटिक आलोचना का जन्म हुआ। अब तक अधिकतर वस्तुगत विवेचन का प्राधान्य था। अब भावगत विवेचन भी प्रारम्भ हुआ और आलोचना स्पष्ट रूप से सृजनात्मक अतएव सरस होने लगी।

२. युग-युग के अन्तर में बहती हुई चिरंतन जीवन-धारा से साहित्य का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए, उसकी इसी रूप में व्याख्या की गई।

३. अनुभूतियों का विश्लेषण होने लगा। अवचेतन और अर्धचेतन की भी यथाशक्ति छानबीन होने लगी।

४. कला का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। अभि-

व्यञ्जना और अनुभूति का सीधा सम्बन्ध समझा गया।

चौथा [redacted]

'संक्षेप में, पूञ्जीवादी समाज की वास्तविकता ने इन छायावादी कवियों को इतना अहंवादी, आत्मापेक्षी, समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया है कि वे अपने असन्तोष का अस्त्र भी फेंक चुके हैं। उनका 'मैं', उनकी अन्तर्प्रेरणाएँ, सामूहिक व्यक्तिका 'मैं' या समाज द्वारा ग्रहण की गई अन्तर्प्रेरणाएँ नहीं रही। खेद केवल इस बात का है कि जीवन और स्वतन्त्रता की आवश्यकता की चेतना के अभाव ने उनकी चिर-अधीरता और चिर-असन्तुष्टि का दुरुपयोग कर, उनमें अपने जीवन की निरर्थकता में सार्थकता का आभास प्रदान करने वाली निरर्थक कला के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर दी है।'—चौहान।

१९३७–३८ से छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। यहाँ से हमारा चौथा चरण आरम्भ होता है। इस प्रतिक्रिया के साहित्यिक और सामाजिक कारण थे—साहित्यिक कारण था छायावादी अनुभूतियों की तरल सूक्ष्मताएँ जिनके परिणाम-स्वरूप उसमें रक्त-मांस की कमी हो रही थी; सामाजिक कारण था जीवन में आध्यात्मिक और सूक्ष्म-संस्कृत के विरुद्ध भौतिक और स्थूल-प्राकृत का आह्वान, अर्थात् गांधीवाद को समाजवाद का चैलेञ्ज। इस आह्वान की अभिव्यक्ति हुई प्रगतिवाद। प्रगतिवाद अपने मूल-रूप में ही आलोचनात्मक है—इसका दृष्टिकोण बौद्धिक है, अतएव इसको जन्म से पूर्व ही आलोचना का वरद हस्त मिल

गया। छायावाद जहाँ अपनी हीनता से संकुचित सफ़ाई देता हुआ (शान्तिप्रिय द्विवेदी की तरह) आया था वहाँ प्रगतिवाद श्रेष्ठता के गर्व से उन्मद, प्रचलित विश्वासों को फटकारता हुआ (वेंकटेश नारायण तिवारी की तरह) आया। फिर भी यह निर्विवाद है कि प्रगतिवाद आज की जीवित शक्ति है, यद्यपि इसका स्वरूप अभी स्थिर होना है। आज की प्रगति कविता सबसे अधिक कवि पंत की ऋणी है जिनके व्यक्तित्व के द्वारा उसे गौरव मिला। आलोचना के क्षेत्र में भी उनका आभार गहन है, सबसे पूर्व उनके ही 'रूपाभ' में लिखे सम्पादकीयों ने भौतिक एवं स्थूल की उपादेयता को सुनिश्चित गांभीर्य के साथ व्यक्त किया और साहित्यिक मानों में समय की माँग के अनुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके अतिरिक्त उनकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अनेक कविताएँ स्वयं प्रगति की प्रौढ़ विवेचना हैं।—'रूपाभ' के साथ ही 'हंस' ने बलपूर्वक प्रगति का आंचल पकड़ा। 'हंस' को स्वर्गीय प्रेमचन्द जी अपने अन्तिम दिनों में बहुत कुछ प्रगतिशील सामग्री दे गये थे—'हंस' ने उसे परिश्रम से संजोये रखा और धीरे-धीरे अपने स्टैण्ड को मजबूत किया। हिन्दी में प्रगतिशीलता की पुकार होते ही वह अपना निश्चित दृष्टिकोण लेकर सामने आ गया। इन दिनों उसमें अनेक लेखकों ने प्रगति की आवाज़ उठाई और लेखों की झड़ी लग गई। प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण उसमें उत्साह और भाव-बल तो था, परन्तु विश्लेषण का एकदम अभाव था। अभी तक ये लेखक प्रगति की कविता

को राष्ट्रीय कविता से पृथक् करके नहीं देख सके थे, यही कारण है कि उस समय प्रगति की परिधि में मैथिली बाबू भी आ जाते थे, जब कि आज वे घोर प्रतिक्रियावादी समझे जाते हैं। अतएव इन लेखों के द्वारा प्रगति की रूपरेखा तो न बन पाई, परन्तु उसका प्रचार अवश्य हुआ जिसके लिए वह सबसे अधिक आभारी है प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त की। इनकी नवीन-प्रिय संस्कृत रुचि और निष्कपट उत्साह ने प्रगति को यथेष्ट सम्मान दिया, और इनकी कृपा से कुछ हाथ-पैर मारते हुए कवि बाहर प्रकाश में आये। फिर भी प्रगति की सीमाएँ निर्धारित करने वाले पहले आलोचक हैं शिवदानसिंह चौहान। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन्होंने काफी दिन तक चुपचाप विदेशी प्रगति-साहित्य का, विशेष कर उसके आलोचना-भाग का अध्ययन करने के उपरान्त हिन्दी में लिखना आरम्भ किया, इसीलिए इनके प्रारम्भिक वक्तव्यों में ही निश्चय और विश्वास मिला, इन्होंने ही सबसे पहले प्रगति के तत्वों का विश्लेषण और उसकी सामाजिक चेतना एवं दार्शनिक आधार को स्पष्ट करते हुए उनका भौतिक व्याख्यान (Materialistic interpretation) किया। अभी तक लोग प्रायः इन्हीं के शब्दों को दुहरा रहे हैं, उससे आगे नहीं बढ़ सके। शिवदान सिंह जी का साहित्य परिमाण में अत्यन्त स्वल्प है—(इसलिए नहीं) इनके लेखों को प्रकाश-स्तम्भ और दीप-स्तम्भ कहना वर्गोत्साह में आकर हिन्दी के नीतिनिर्धन आलोचना-साहित्य का अपमान करना है। एक तो इनकी व्याख्या विदेशी-साहित्य से

परिचित व्यक्ति के लिए पूर्णतः नवीन नहीं है, दूसरे उसमें अभी वस्तु के विश्लेषण के साथ सिद्धान्त का आरोप भी काफी है, और तीसरे वह एकदम एकाँगी है। परन्तु यह मानना अनिवार्य है कि उनकी दृष्टि गहरी और स्थिर एवं विश्वास अतर्क्य है। साथ ही प्रगतिवर्गके अन्य आलोचकों की अपेक्षा उनमें कहीं अधिक विवेक और उदारता है जो उनके आत्म-विश्वास की द्योतक है। आलोचना में मार्क्स के दृष्टिकोण को इनसे कुछ पूर्व अज्ञेय और रामविलास शर्मा ग्रहण कर चुके थे। इन दोनों में एक बात समान है—वह यह कि ये क्रान्ति के समान ही परम्परा के भी भक्त हैं। अज्ञेय जी के लेखों का संग्रह 'त्रिशंकु', जिसमें उन्होंने भौतिक आधार पर ही आधुनिक कला और साहित्य का विवेचन किया है, आज तीन-चार वर्ष से प्रेस के कक्ष में सुरक्षित है। अज्ञेय में सूक्ष्मताके साथ शक्ति भी है। इनका यह दोष है कि कभी-कभी ये या तो टेकनीक के मोहवश या कुछ बहुत गहरी और नयी बात कहने के प्रयत्न में अपनी ही निविड़ता में उलझ जाते हैं। रामविलास की आलोचना उनके व्यक्तित्व के समान ही दृढ़, खरी और कुछ खड़ी भी होती है। आज उनके जो लेख निकल रहे हैं उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो उनकी प्रवृत्ति विश्लेषण की जटिलताओं में न पड़कर (जैनेन्द्र जी की शब्दावली में) दो टूक बात कहने की ओर होती जा रही है। ये दोनों आलोचक शायद अपने व्यक्तिवाद के कारण प्रगति की सीमा-रेखा पर ही खड़े हैं।

हमारे चौथे चरण का अभी पहला पग-निक्षेप है। परन्तु जैसा मैंने अभी निवेदन किया, प्रगति का मूल ही आलोचनात्मक है, अतएव इन दो तीन वर्षों में ही उसके प्रभाववश हिंदी-आलोचना में स्फूर्ति आ गई है। प्रगतिवाद की सबसे बड़ी देन है मार्क्स का दृष्टिकोण। साहित्य की सामाजिक चेतनाओं का अध्ययन स्वयं मनोरंजक है—उसके द्वारा साहित्य की अन्तर्वृत्तियों पर एक नवीन प्रकाश पड़ता है। प्रगति का दूसरा शुभ प्रभाव यह हुआ है कि आलोचना में बौद्धिकता की शक्ति आ गई है जिससे विश्लेषण का गौरव बढ़ने लगा है—विश्लेषण में अभी प्रायः मार्क्स की ही सहायता ली जा रही है, फ्रायड की अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि अभी हिन्दी को नहीं मिल सकी। परन्तु कुछ आलोचक उधर प्रयत्नशील अवश्य हैं और हमारा विश्वास है कि मार्क्स और फ्रायड का संयत, विवेकयुक्त (बिना इसके भयङ्कर छीछालेदर की सम्भावना है) उपयोग हिन्दी-साहित्य के सूक्ष्मतम तत्वों को प्रकाश में ले आयेगा।

....

Rup Kishori Dhar

[१५]

आधुनिक हिन्दी–साहित्यिक नाटक

(पं० उदयशंकर भट्ट)

उत्थापना

सृष्टि में जो कुछ भी जीवन है वही अभिनय है। लोग कहते हैं संसार एक रंगमंच है, मनुष्य पात्र हैं, वे अपना भला-बुरा अभिनय करके चले जाते हैं। इन वाक्यों में बहुत कुछ तथ्य है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ जीवन है, वही अभिनय है। हां, जीवन की जो विशेषताएँ हैं, उसके सुख-दुख हैं, आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ हैं, क्रिया-प्रतिक्रिया है, साम्य-वैषम्य है, अचानक जीवन में आ जाने वाली घटनाएँ हैं, वे सब नाटक की कथावस्तु बनी हैं। ईश्वर से लेकर साधारण मनुष्य तक उस के पात्र हैं, आदर्शवाद से लेकर यथार्थवाद तक और विशेष से लेकर सामान्य तक उसकी रूपरेखा में शामिल होता रहा है। जीवन के पोषक तत्त्व जीवन को बढ़ाते हैं। आग, पानी, बिजली, फूल, झरने, नदी, तालाब, चन्द्रमा, नक्षत्र, दिन, रात, उषा, सन्ध्या उसे पुष्ट करते हैं; काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, सत्य,

मिथ्या, दम्भ उसको दिशा-विशेष की ओर उठाते हैं और एक विशेष प्रकार का वातावरण जीवन के लिए प्रस्तुत करते हैं। वातावरण मनुष्य का निर्मित किया हुआ एक पथ है, जिस पर वह अपने समस्त बल के साथ तर्क और विवेचना लेकर या उसी के अनुसार अपने को ढालकर आगे बढ़ता है। तब नाटक भी जीवन का वही रूपक है, जिसमें व्यक्ति या समाज के सुख, दुःख, इच्छा, राग, द्वेष व्यक्त होते हैं। जिस वस्तु से हमें सुख मिलता है वह हमें प्रिय होती है, जिससे कष्ट होता है वह अप्रिय। हालांकि प्रियत्व या अप्रियत्व वस्तु का रूप नहीं है, वह तो हमारे हृदय के रागतन्तुओं और मस्तिष्क के चेतनातन्तुओं की उपज है। फिर मानना तो ऐसा ही पड़ेगा। नाटक उन्हीं सब रूपों का प्रतिबिम्ब है।

साहित्य सदा से समाज या व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। व्यक्ति का रूप तो, मैं मानता हूँ, समाज के ही भीतर है, जब तक वह अपने को इतना उदग्र और इतना उन्मुख नहीं कर लेता कि साधारण समाज की बंजर भूमि को फोड़ कर अंकुर के समान वह कहीं ऊपर उठ आवे। जैसे तालाब में जितना पानी है वह बूँदों की बहुत्व सत्ता है। इसी तरह समाज व्यक्ति से, व्यक्ति समाज से भिन्न नहीं है। व्यक्ति का बहुवचन ही समाज है और समाज का एकवचन व्यक्ति। प्राचीन काल से लेकर आज तक और आगे न जाने कब तक कभी व्यक्ति और कभी समाज रूप में उतार-चढ़ाव होता रहा है। इसी के अनुसार

मनुष्य का संसार-नाटक भी कभी व्यक्तिवाद, कभी समाजवाद, धर्मवाद का पोषक बना रहा है। यह अत्युक्ति नहीं है। साहित्य या नाटक का प्राचीन उद्देश्य मनुष्य का उसके भीतर अपने को झाँककर देखना नहीं था। वह बाह्य था, जो अन्तर के कभी रूप की झाँकी देखकर उठा।

अस्तु नाटक की यह चेष्टा हिंदी के नाटकों पर भी उसी तरह लागू होती है जिस तरह संसार के अन्य नाटकों के सम्बन्ध में।

प्रारम्भ

हिंदी में हरिश्चन्द्र-युग के बाद तथा उसके आधारभूत अनुवादधारा के अनन्तर मौलिक नाटकों का युग आया। इससे पूर्व भी हिंदी में कुछ मौलिक नाटक लिखे गये, पर न तो वे इस योग्य ही हो पाये कि अपने अस्तित्व की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते और न उनमें नाटकत्व ही अधिक मात्रा में था। नाटकशालाओं के अभाव में भी जो नाटक अपनी मौलिकता एवं स्वास्थ्य लेकर आये उनमें स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के नाटकों का प्रमुख स्थान है। इस नाटककार ने हिन्दी के नाटकों की दिशा ही बदल दी। प्रसाद ने मौलिक रूप से संस्कृत के नियमों का निर्वाह करते हुए नाटक लिखे। इनका रचनाकाल १६१० से प्रारम्भ होता है। ये रचनाएँ कुछ काल्पनिक, कुछ पौराणिक और अधिकतर ऐतिहासिक आधार पर हुईं। बङ्गला नाटकों में भाव-प्रधान, उग्र शैली की जो ऐतिहासिक एवं पौराणिक धारा थी वह

धारा प्रसाद के नाटकों में न रही।

बङ्गला नाटकों के अनुवाद द्वारा जहाँ हमारे साहित्य को नाट्य द्रुतता और भाव क्षिप्रता मिली, वहाँ अंधड़ का आवेग, तूफानों की विशालता, अनायास तारकवर्षण, बेमौसम मूसलाधार वर्षा, ओले, सभी मिले। सब वस्तुएँ रोमांस की तरह तेज दौड़ती हुई, स्पष्ट-सी दीख पड़ीं। उस प्रवृत्ति ने हमें अनिरुद्ध गति से दौड़ती रेल की तरह वृक्षों की पंक्ति, पर्वतों की कतार को स्वरूप से न देख सकने का अभ्यासी बना दिया। पात्र, भाषा, संवाद सब कुछ साधारण मनुष्य की ऊँचाईसे भी ऊँचा, विश्वास से अधिक तीव्र हो गया। आदर्श था तो ऐसा कि केवल कल्पना ही वहाँ जा सके। रोमांस था तो इतना विशाल कि उसमें पाठक चौंधिया उठे। स्पष्टतया हम कुछ भी न देख सके। मेरे विचार से भावों के इस तूफान ने हमें स्पष्ट दर्शन का अनभ्यासी बना दिया। इसका एक कारण वहाँ की आवेशमूलक शैली और वर्णन अथ च भाव-क्षिप्रता है। साहित्य का यह रूप उसका एक अंश हो सकता है, सर्वांश नहीं, सम्पूर्ण नहीं। इन नाटकों ने हमें अधिकतर कल्पनापूर्ण बनाया, वास्तविक नहीं। उनके पात्रों का सामंजस्य हमसे केवल एकाँगी होकर ही मिल सका। तथा उड़ान ने नीचे के स्तर से ऊपर ले जाकर दिखने का प्रयास किया है।

इसके अतिरिक्त जीवन का, समाज का, जिसका चित्र भी इतना ऊँचा उठा हुआ है कि उसमें नाट्य कवित्वमय हो गया। और जो आभा स्पष्ट होनी चाहिए थी वह धुँधली और अर्ध-

जागरूक हो गई। बङ्गला-नाटकों पर भी यह प्रभाव शैक्सपियर का था, जिसका उद्देश्य मनोरञ्जन ही अधिक था।

अस्तु, प्रसाद जी ने ११ नाटक लिखे। उनमें पहले चार—सज्जन, करुणालय, वरुणालय और राज्यश्री पुरानी रूढ़ियों के अनुसार नान्दी, सूत्राधार, स्वगत, विष्कम्भक आदि नाट्य-शास्त्र के नियमों में जकड़े हुए हैं। दूसरे काल में लिखे गये नाटकों में—विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नाग-यज्ञ, कामना, चन्द्र-गुप्त, स्कन्दगुप्त, एक घूँट और ध्रुवस्वामिनी हैं। उत्तर काल में रचित नाटकों में हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि नाटककार ने नाटक के नियमों की अवहेलना की है। अजातशत्रु में स्पष्ट प्राचीनता का बहिष्कार दीख पड़ता है। इसीलिये इसमें मङ्गलाचरण, नान्दी, सूत्रधार और भरतवाक्य नहीं हैं। अन्य नाटकों में भी हम यही देखते हैं कि नियमों की कोई परवाह नहीं की गई है। यहाँ तक कि हत्या, युद्ध आदि जो बातें नाट्यशास्त्र के अनुसार वर्जित हैं, नाटकों में उनका बे-रोक टोक प्रयोग हुआ है।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में प्राचीनता एवं नवीनता का सम्बन्ध बनाये रखा है। वे एक प्रकार से उस युग का प्रदर्शन करते हैं जो प्राचीनता के कलेवर में नवीनता की वेशभूषा से सुसज्जित हो चुका है। इन्होंने भारतेन्दु के द्वारा जो कुछ अपूर्णता रह गई थी, उसीको पूरा करने का प्रयास किया है। प्राचीन इतिहास में वैदिक तथा बौद्ध युग के दिग्दर्शन की चेष्टा भी स्पष्ट लक्षित होती है।

परन्तु वस्तु, पात्र और रस जो तीन बातें नाटकों की जान हैं, इनके नाटकोंमें उसी रूप में विद्यमान हैं। हां, एक बात इनके नाटकों में हम विशेष रूप से पाते हैं, वह यह कि नाटक की परिभाषा दृश्य की अपेक्षा श्रव्य भी कर डाली गई।

नाटकों में विचार-गाम्भीर्य और गहन दार्शनिकता को इन्होंने स्थान दिया। इसका कारण कुछ तो इनका कवि तथा गम्भीर एवं मननशील होना था और कुछ अन्वेषक। आरम्भ के चार नाटकों के कथोपकथन सरल हैं। बातचीत में गहराई नहीं है, परन्तु आगे के नाटकों में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद का प्रभाव उन पर स्पष्ट दीख पड़ता है। भावुकता एवं गम्भीरता के कारण परिहास तो बिलकुल ही नहीं चमक पाया। 'विशाख' का विदूषक महापिंगल 'तुम्हारा नाम जो है सो' को बार-बार दुहराता है। 'स्कन्दगुप्त' का मुद्गल—'जो है सो काणाम्' कहकर हँसाना चाहता है।

प्रसाद के नाटकों में भाषा के अतिरिक्त भावों में भी परिवर्तन हुआ। अभिव्यक्ति नई बनी। कविता का दृष्टिकोण बदला। हरिश्चन्द्र के युग से कविता का जो रूप नाटकों में अर्धजागृत हुआ था, वह प्रसाद के नाटकों में आकर एकदम उद्बुद्ध चेतन हो उठा। प्रसाद ने उसमें माधुर्य, सौन्दर्य, गाम्भीर्य भर दिया। इस दृष्टि से किया गया नाटककार का यह प्रयत्न एक दम नूतन एवं सुन्दर कहा जायगा। एक उदाहरण लीजिए:—

यह कसक अरे आंसू सह जा,
बन विनम्र अभिमान मुझे मेरा अस्तित्व बता, रह जा।

इसके साथ हलकी देश भक्ति को भावुकता और दृढ़ता की कूची से और भी गहरा कर दिया। चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि पात्रों के द्वारा देश प्रेम की सतह को ऊँचा उठाया। कार्नेलिया को प्रेम का प्रतिदान उसे केवल देश प्रेम के कारण मिल सका। नाटककार का विश्वास नियति में था। वे जानते थे कि अदृष्ट बड़ा बलवान् है। कर्म ही कर्म है। नियतिवादी होते हुये भी वे कर्म से हटना ठीक नहीं समझते थे। इसके कई उदाहरण यत्र-तत्र उनके नाटकों में पाये जाते हैं।

नाटककार की आषा नैराश्य की वेदना से गुथी हुई है। साम्राज्य-रक्षा की आशा के विफल होने पर एक जगह स्कन्दगुप्त कहता है—"चेतना कहती है तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है। नाथ! मुझे दुखों का भय नहीं। संसार के संकोचपूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियां टूटतो हैं; उतना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है।"

मुझे आश्चर्य है कि प्रसाद जी ने दुःखान्त नाटक क्यों नहीं लिखे? उनके नाटकों में वेदना बहुत ही पूर्ण अवस्था में पाई जाती है। कदाचित् इसका एक कारण यह जाना जा सकता है कि वे स्पष्टतः पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का जीवन दुःखान्त नहीं है, किन्तु सुखान्त है। वह सुख मोक्ष है, जिसको पाने के लिये जीव नाना योनियों में

अपने कर्मों के फल भोगता हुआ अन्त में मोक्ष तक पहुँच जाता है। मृत्यु इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर एवं अवस्था का परिवर्तन मात्र है।

परन्तु मेरा विश्वास है कि इस सिद्धान्त के होते हुये भी जीवन की बहुत सी परिस्थितियां दुःखान्त हैं। क्या जीवन में एक आशा शाश्वतिक रूप से विफल नहीं? एक तरङ्गित हृदय सदा के लिये गहरी ठेस खाकर बैठ नहीं जाता? शैक्सपियर के ओथेलो में डेस्ट्रियोना की मृत्यु के बाद भी ओथेलो जीवित ही है, मर नहीं गया। केवल उसकी एक आशा, एक विश्वास, एक कोमल तन्तुओं से पली हुई धारणा को धक्का पहुँचा। परन्तु ओथेलो की चमकती हुई आशा का परान्त डेस्ट्रियोना की मृत्यु नहीं है। वह जीवन धारण करके न जाने कहाँ, न जाने कैसे रहा। इतना होते हुये भी उसका वह हृदय कभी नहीं जुड़ा। हाँ तो केवल उक्त प्रकारके सिद्धान्त के लिए कला की एक सुन्दर अभिव्यक्ति की उपेक्षा मान्य नहीं हो सकती।

अस्तु, नाटककार ने अदृष्टवाद का भय दूर करने के लिए जरत्कारु, गौतम, वेदव्यास आदि पात्रों की सृष्टि बिल्कुल नये उद्देश्य को लेकर की है; शायद यह प्रभाव उसके नाटकोंमें द्विजेन्द्र लाल राय का है। राये महाशय ने 'भीष्म' नाटक में वेदव्यास से ही संसार के सुख-दुःख की परवाह न करके, 'कर्म करो' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कराया है।

दूसरा युग

प्रसाद के बाद हिन्दी नाटकों की दिशा ही बदल गई। हम देखते हैं नाटक का युग साहित्य के अन्य अंगों की तरह सदा से विकासोन्मुख रहा है। उसने अपने लिए नित्य नये पात्र ढूँढे हैं। वह ईश्वर से उतर देवताओं के पास आया, देवताओं से ऋषि-मुनियों, राजा-महाराजाओं का आश्रय ढूँढ़ा। जो भी पात्र इसे अपने क्षेत्र को चमकाता हुआ देख पड़ा, जिस वातावरण में भी वह अपने लिए कोई चमकती हुई किरण देख सका, उसका उसने सादर सत्कार करके अपने में मिला लिया। उसका प्रधान उद्देश्य जीवन की अभिव्यक्ति रहा। राग-द्वेष, घृणा, सौन्दर्य की पराकाष्ठा दिखाना रहा। वरमाला, अजीतसिंह, रक्षाबन्धन, जयपराजय, दाहर, अम्बा, सगरविजय, और स्वप्न भंग में रंगमंच की कमी होते हुये भी उनका अभिनेयत्व सिद्ध किया जा सकता है। वरमाला, रक्षाबन्धन तो अभिनीत हो भी चुके हैं।

इन उपर्युक्त नाटकों में पद्धति एक-सी होते हुए भी दृष्टि-कोण में भेद हुआ। इन में से बहुत से नाटक ऐतिहासिक वस्तु के आधार पर भी हैं। उदाहरणार्थ नाटककार प्रसाद ने पौराणिक एवं बौद्धकाल से सामग्री लेकर नाटक-रचना की। इसी प्रकार सर्वश्री अश्क, चतुरसेन शास्त्री, मिलिन्द, प्रेमी और मैंने मुस्लिम युग को अपने नाटकों का क्षेत्र चुना। रक्षाबन्धन, शिवासाधना, स्वप्नभङ्ग, जयपराजय, अजीतसिंह, प्रतापप्रतिज्ञा, दाहर अथवा सिन्धपतन आदि नाटक मुस्लिम-काल के हैं।

प्रसाद ने जिस क्षेत्र को छुआ भी नहीं, अर्वाचीन नाटककारों ने उस युग को ही अपने नाटकों का क्षेत्र बनाया। इधर पौराणिक नाटक भी लिखे गये। सज्जन, करुणालय, वरुणालय, प्रायश्चित्त के बाद श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी ने कृष्णार्जुनयुद्ध नाटक लिखा। और पिछले कुछ वर्षों में मेरे अम्बा, सगरविजय, मत्स्यगन्धा और विश्वमित्र ये चार नाटक निकले। पौराणिक होते हुए भी इन में अन्तिम दो मत्स्यगन्धा, और विश्वमित्र भावनात्मक हैं। इन नाटकों में केवल एक-एक अङ्क है और दो-दो, तीन-तीन दृश्य। इधर श्रीचन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार ने रेवा नाम से सिनेमा के रंगमच का एक सुन्दर साहित्यिक नाटक हिन्दी संसार को भेंट किया। सेठ गोविन्ददास ने भी 'तीन नाटक' नाम से नाटकों का एक सुन्दर संग्रह तैयार किया।

हां एक बात और। एक मूर्त धारा जो प्रसाद से पूर्व हमारे नाटकों में आई थी, हम देखते हैं अविच्छिन्न रूप से वह हमारे नाटकों में चलती रही है। वह है आर्यगौरव। जीवन की इस दिशा ने भी हमारे नाटकों को उठाकर उछाला है; उसे मनुष्य की वर्तमान स्थिति से दूर कर दिया है। आदर्शवाद, जैसा कि मैंने उत्थानिका में बताया है, हमारे जीवन में बहुत प्रिय वस्तु रही है। आदर्शवाद के मूल में काव्य का ही नहीं सम्पूर्ण साहित्य का ध्येय व्यक्तिकल्याण, समाजोत्थान एवं राष्ट्रोन्नति रहा है। वह हमें जीवन को ऊँचा उठाने की प्रेरणा देता है। और उसने दी भी है। जहां तक इस वाद की उपयोगिता

का सम्बन्ध है वह ठीक है। जीवन में रगड़ खाकर, मुँह के बल गिरकर, उठकर, चोर के पीछे अपना माल छीनने को गिर कर, ठोकरें खाकर दौड़ने वाले मनुष्य की तरह जो हम आदर्श-वाद के पीछे चलते रहे हैं वही एक प्रशस्त पन्थ है, ऐसा मैं मानने को तैयार नहीं हूँ। यह तो उस समय की तरह है, जो रोगी को अच्छा करना चाहता है, उसके स्वास्थ्य के ध्येय को लक्ष्य में रखे हुए है पर बीमारी नहीं पहचानना चाहता। यथार्थवाद ने हमें जीवन का यह पहलू भी सुझाया। मनुष्य ने देखा कि वह क्षितिज को पाने के लिये दौड़ तो रहा है परन्तु अपने को ठीक रूप से समझ नहीं पाता कि आप वह दौड़ भी सकेगा।

इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि आदर्शवाद की प्रगति स्वाभाविक नहीं है। वह तो एक मार्ग है जिसका निर्माण समाज ने किया है। वह चाहता है प्रत्येक जीवन उसी सांचे में ढाला जा सके, जिसकी दिशा उसने युगों पूर्व निर्धारित की है। यह ठीक है कि यथार्थ-दर्शन की कला का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। परन्तु समाज का, व्यक्ति का आत्मदर्शन जो हम उससे पाते हैं वह हमारे लिये उठने का एक साधन बन सकता है। मानना पड़ेगा कि कोई भी वाद जीवन की कला की पराकाष्ठा नहीं है। ये तो सीढ़ियां हैं, रेलवे के जंकशन स्टेशन हैं, जिनके आगे और भी बहुत कुछ है। इसलिए न तो आदर्शवाद ही कला की कोई सीमा है और न यथार्थवाद ही। अस्तु, यहां तो इतना ही कहना है कि ऐतिहा-

सिक दृष्टि से ऊपर बताये नाटकों में स्वगत, विष्कम्भक आकाश-भाषित, नान्दी और सूत्रधार का बहिष्कार है। पाठक देखेंगे कि उक्त नाटकों में इन सब बातों का अभाव होते हुये भी निर्वाह में कमी नहीं रहने पाई है।

इसके बाद एक बार फिर दिशा बदली, और नाटककार ने देखा कि प्राचीन से अर्वाचीन का निर्माण होते हुए भी वह ठीक दिशा में नहीं चल रहा है। जीवन की विषमताओं, सुख-दुःखों की विवेचना जो आज का पाठक उस साहित्य से पाना चाहता है, वह ठीक तौर से नहीं पा रहा है। उसकी ऐतिहासिक अवस्थाओं से उसे सन्तोष लाभ नहीं हो रहा है। इसलिये नाटककार ने जाना कि सब का सब प्राचीन ही अर्वाचीन नहीं हो सकता। आज का व्यक्ति समाज, प्रान्त और देश के प्रत्येक भाग से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रखता है। दूरस्थ अमेरिका, रूस, फिनलैण्ड, जर्मनी की राष्ट्रीय शक्ति, स्थिति, परिवर्तन का प्रभाव भारत के गांव में रहने वाले व्यक्ति पर भी पड़ता है। वह इससे मुख नहीं मोड़ सकता। काल की सीमाएँ पार करके समुद्रों की गगन-चुम्बी लहरों को छेदकर उसने पाया कि सब संसार एक है। केवल प्राचीन के आधार पर ही नवीन का निर्माण स्वप्न है। बहुत बार अपने को 'दोहराने' करने के बाद भी शायद इस बार के संसार की बिजलियां फिर भूत की मशालों से नहीं जल सकतीं। इसलिये नये संसार की आशा में उसने प्रत्यक्ष को देखना, पहचानना प्रारम्भ कर

दिया। उसने देखा कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आज का समाज भूत का मोह छोड़ कर वर्तमान से भविष्य को बनाना चाहता है।

यही सब सोच कर आज का लेखक अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करने को उतारू हो गया है। नाटक में भी वह परिवर्तन उसने आवश्यक समझा। आदर्शवाद से रोमांसवाद, और रोमांस से यथार्थ की ओर अब वह देख रहा है। इब्सन, बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी आदि नाटककारों के प्रभाव से कहिये या स्वयं अनुभूति लेकर, हिन्दी का नाटककार उस ओर जाने को उत्सुक है। वह कहता है कि जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति साहित्य में होनी चाहिये। सर्वसाधारण के सुख-दुख में उसका, उसके वर्ग का, उसके समाज का सुख-दुख निर्भर है। हिन्दी में इस ओर जिन नाटककारों ने ध्यान दिया है उनके नाम और पुस्तकें ये हैं—लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक संन्यासी, राजयोग, राक्षस का मन्दिर; उपेन्द्रनाथ का स्वर्ग की झलक; मेरा कमल; सुदर्शन का भाग्यचक्र; रामनरेश त्रिपाठी का जयन्त; भगवती-प्रसाद वाजपेयी का छलना; सद्गुरुशरण का मुद्रिका; पृथ्वीनाथ शर्मा का अपराधी और पन्त की अंगूर की बेटी, आदि।

यह ठीक है, इनमें से बहुत से नाटकों में हम जीवन के वर्तमान को उतनी गहराई से नहीं देख पाये हैं, किन्तु प्रयास अभी तक जारी है। इससे वह दिन भी शायद हमारे साहित्य को प्राप्त हो जब कि वह एक ही दृष्टि में 'मैन एण्ड सुपरमैन'

की 'एनी डान जान' की तरह जीवन का 'एक्सरे' कर सके। फिर भी पाठक देखेंगे कि इन नाटकों में जीवन और उसका रूप अर्थात्, वस्तु, संवाद, अभिव्यंजना, निर्वाह, शैली सभी कुछ बदल गया है। 'राक्षस के मंदिर' और 'सन्यासी' में पात्र हमी लोग हैं। और हैं प्रतिदिन जीवन में आने वाली समस्यायें। इन में न कल्पना की ऊँची उड़ान है, जिनका संसार के दैनिक जीवन में मनुष्यों से कोई सम्बन्ध न हो, और न नाट्यशास्त्र के बन्धनों के अनुसार धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत तथा धीर-प्रशान्त नायक ही। सभी नाटकों में दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली समस्याएँ हैं। सब कुछ राष्ट्रीय है। उसके उतार-चढ़ाव से पाठकों को परिचित कराने की चेष्टा है। इसीलिये रंगभूमि में देव लोक, नरकलोक और अमरपुरी से उतरकर हम लोग नगर के बाज़ारों, देहात के चौपालों, रसोईघरों, उठने-बैठने, खाने-पीने के कमरों तक पहुँच गये हैं। पुराने राजसी ठाठों को छोड़ कर शहर की पोशाक पर आगये हैं। देवता, राजाओं, ऋषि-मुनियों की वेदमन्त्रों वाली सभाओं से निकल कर मोटर, ताँगों में और पैदल चलने लगे हैं। यही नहीं नग्न, अर्धनग्न, दुर्बल, दलित, पीड़ित, शोशित और शोषक के पास पहुँच गये हैं। नायक और नायिका दैनिक जीवन में दिखाई देने वाले साधारण मनुष्य हैं। आज के नाटक की नायिका वह आधुनिक नारी है, जिसके हृदय में या तो शिव की जटाओं में गंगा की अजस्र धारा की तरह आँसुओं की सरितायें हैं और

या फिर कामदेव के जलने के बाद एकदम निरीह निरुपाय रति का वासस्थान। खैर बच्चे और बूढ़ भी हमारे दल में शामिल हो गये हैं। एक तरह से रंगमच हमारा घर हो गया है। इस प्रकार आज के नाटककार ने हम आप सब से ही अपनी कथा को चुना है; उसे यह परवाह नहीं है कि इन चुने हुये पात्रों में आदर्श है या नहीं; उसकी भाषा उठ कर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति में समा सकेगी या नहीं। ऐसा देख पड़ता है, उसका प्राचीनता से विश्वास उठ गया है। उसने पुराने के नौ अंकों से छुट्टी पाली है। वह अब समय के अभाव से पांच अंक भी नाटक में नहीं रखना चाहता। वह जीवन के पहलू के दिखाने के लिये, अपनी बात तीन अंकों और कुछ दृश्यों में ही समाप्त कर देना चाहता है।

नाटकों में एक बात जो स्पष्ट लक्षित हो रही है, वह गीतों का अभाव है। गीतों का नाटक में क्या स्थान है, इस पर विचार करना चाहिये। असल में गीतों का रखना नाटकों में उस स्थल-विशेष की ओर निर्देश करता है, जहां हमारा या पात्र का व्यक्तित्व उठकर अविकल रूप से जीवन और उसकी समस्या को सुलझाना चाहता है। वह हृदय के तारों को खींच कर जीवन को झंकृत बना देना चाहता है—उसे स्वप्नमय कर देना चाहता है। वस्तुतः आवेश का वह क्षण, अवस्था और घटना की उद्दाम एवं तरङ्गित प्राणचेतना गीत बन कर निकलती है। संस्कृत में तो नियमों का बन्धन न होते हुये भी वह इतना

अधिक प्रचार पागया है कि एक तरह से नाटक का प्राण बन गया। परन्तु हिन्दी में यह विरल रूप में देख पड़ता है। और जब नाटककार की सरस्वती आवेश में आकर अपने को छन्द-बन्धन में जकड़ देती है, तब प्रेरणा ही गीत या कविता बन उठती है। इधर इब्सन और शा के नाटकों में यह रूप न दिखाई पड़ने से कहीं हिन्दी में सैद्धान्तिक रूप से उसका बहिष्कार हो गया है। इससे एक बात और भी पाई जा सकती है, वह यह कि नाटककार का कवि होना आवश्यक नहीं। वह आवेश के उस क्षण को अपनी वास्तविकता से दबाकर पात्र को ऊपर नहीं उठने देना चाहता। कुछ नाटककारों ने देखा कि यह आवेश सङ्गीतमय होते हुये भी आवश्यक नहीं है। उदग्र होते हुए भी वास्तविक नहीं है। इस लिए कुछ लेखकों ने इसका सर्वथा बहिष्कार कर दिया है। मैं देखता हूँ कि इसके लिये कोई नियम नहीं होना चाहिये; पात्र की योग्यता और परिस्थिति और दोनों बातों के ऊपर इनका निर्णय हमें छोड़ देना पड़ेगा।

हाँ, तो एक तरह से यह सब शुभ है, यह कहना कठिन है। घर की किल-किल से खिन्न व्यक्ति यदि भाग्यचक्र में, कमला में, अपना ही रूप देखे तो क्या उसे शान्ति मिलेगी ? अपनी कर्कशा स्त्री से, जो सदा उचित-अनुचित ढंग से महादीन को तंग करती है, स्वर्ग की झलक पढ़ कर शान्ति मिलेगी। स्त्री की समस्या को हल करना सदा के लिए आवश्यक होते हुए भी वह क्या कोई ऐसी चीज़ नहीं चाहता, जिसमें उसका

अन्धकार भरा संसार थोड़ी देर के लिये शराब की घूँट में चेतना की तरह खो न जाय ! यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर आज नहीं तो कल साहित्य से पूछा जायगा।

एकाङ्की नाटक

इधर थोड़े समय से एकाङ्की नाटकों का प्रचार भी बहुत अधिक बढ़ता जा रहा है। एकाङ्की नाटक जीवन के एक अङ्ग की परम्परा से चले आए सुख-दुख, विषाद की एक झाँकी हैं। कहानी की तरह उनका रूप छोटा, कलेवर संकुचित होता है। एकाङ्की नाटकों के सम्बन्ध में कुछ लोगों की धारणा है कि वे कला की दृष्टि से कुछ भी नहीं हैं। इस पर विचार करना होगा। जिस प्रकार जीवन एक होते हुए भी वह समष्टि से बँधकर चलता है। सुख-दुख, श्वास-उच्छ्वास, हृदय के व्यापार की मानव में सदा ही अभिव्यक्ति होती रहती है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह अभिव्यक्ति उसकी अपनी है। बाहर की वस्तुओं का मनुष्य पर प्रतिक्षण आघात-प्रत्याघात होता रहता है। प्रकृति के प्रत्येक रूप से उसे जीवन को रखने घटाने और बढ़ाने की क्षमता प्राप्त होती रहती है। इसी प्रकार नाटक में मनुष्य का व्यक्तिगत रूप समाज और प्रकृति से सहायता लेकर चलता है। देश, काल, प्रकृति, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार प्राणी का स्वभाव बनता है। वह स्वभाव ही उसका व्यक्तित्व है। नाटककार वैसा वातावरण बनाकर

अपने पात्र को जगत् के सामने रखता है और क्रमिक विकास के द्वारा उसका रूप निर्धारण करता है। एकाङ्की नाटक में जीवन का एक अंश परिवर्तन का एक क्षण, विशेष प्रकार के वातावरण से प्रेरित घटना का एक झोंका, दिन में घण्टे की तरह मेघ में बिजली की चमक की तरह, वसन्त में फूल के हास की तरह व्यक्त होता है। पुस्तक में जिस प्रकार अध्याय का महत्त्व है, वृक्ष में जिस तरह शाखाओं का महत्त्व है, इसी प्रकार एकाङ्की नाटकों का महत्व समझना चाहिये। बड़ा नाटककार सम्राट् अशोक को अहिंसावादी बनाने के लिये उसका पूर्व स्वभाव, उस समय की राजनीति, प्रजा की अवस्था, कलिंग की लड़ाई, हिंसा की उग्रता, देशकाल की परिस्थिति आदि सभी बातें रखेगा, परन्तु एकाङ्की लेखक केवल कलिंग युद्ध के रणस्थल का दृश्य दिखाकर अशोक के स्वभाव परिवर्तन और प्रतिक्रिया रूप से अहिंसा प्रेम को जागरूक कर देगा। वह निशाना भरने के लिये दुर्योधन और युधिष्ठिर की तरह चिड़िया के सिर पंख नहीं देखता! वह तो अर्जुन की तरह केवल लक्ष्य की ओर आंख रखता है, स्पष्ट लक्ष्य की ओर। वह देखता है जीवन का मोड़, स्वभाव की प्रतिगामिता, चित्र की एक झलक। उसे न वर्षों तथा युगों में समाप्त होने वाले जीवन से कोई सम्बन्ध है और न अंकुर, पौदे, विरलता और फूल के बनने से। वह केवल कुछ घण्टों, कुछ मिनटों में मनुष्य की रेखा की, हृदय की प्रवृत्ति का—किनारे से टकराने वाली

लहर की तरह झांकी दिखा देता है। मैं समझता हूं, 'एलबम' में एक चित्र का जो रूप है, ठीक वैसा ही एकाङ्की नाटक का भी रूप है।

कई लोग कहते हैं कि जब हिन्दी में रंगमंच का अभाव है, नाटककारों के नाटक खेले नहीं जाते, तब नाटक लिखे ही क्यों जायँ? मेरा उत्तर यह है कि नाटकों को केवल दृश्य समझना भूल है। अभी पिछले दिनों वीणा-सम्पादक ने अपने सम्पादकीय में काशी सम्मेलन के अवसर पर स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के स्कन्दगुप्त का ठीक अभिनय न हो सकने के कारण नाटकत्व की निरर्थकता सिद्ध करने की चेष्टा की है। मैंने उसका उत्तर वीणा में देते हुए कहा कि सब नाटक एक ही तरह से अभिनीत नहीं हो सकते। प्रत्येक नाटक एक ही तरह के पात्रों, वातावरणों द्वारा एक-सी रंगभूमि पर खेले नहीं जा सकते। प्रसाद के नाटकों में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसका ठीक अभिनय हो सके। इतना होते हुए भी मेरा मत है कि नाटक केवल अभिनय की ही वस्तु नहीं है, वह पठनीय भी है। उसका एक कारण यह है कि नाटक में जो मानसिक और शारीरिक व्यापार होते हैं, संवादों द्वारा जो कथावस्तु का निर्वाह होता है, चरित्र उठते हैं, संघर्ष तक पहुँचते हैं, क्रिया-प्रतिक्रिया, व्यंग्य, हास-परिहास दृश्यों द्वारा जो जीवन की अभिव्यक्ति होती है, उन सबको देखने सुनने समझने का भार पाठक के मन पर है। बुद्धिगत है। इसके चेतना-तन्तुओं में जाग्रृति कर देने से

होता है। वह जागृति पाठक के सुख-दुख राग-द्वेष द्वारा मूर्त होती है। जिससे उसे पात्र के प्रति राग-द्वेष, घृणा की भी प्रतीति होती है। यह ठीक है यदि वह दृश्य हो तो और भी अच्छा, पर वह पठनीय भी है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। क्या कालीदास, शैक्सपीयर, शा, भवभूति, प्रसाद आदि के नाटकों को पढ़कर आनन्द नहीं प्राप्त किया जा सकता? क्या पढ़ने पर उनसे उतनी तत्परता नहीं मिलती, जो देख कर होती है? फिर यह कैसे माना जाय कि उनमें दृश्यत्व ही है, पठनीयत्व नहीं। मेरा विचार है हमें नाटक की इस पुरानी परिभाषा को बदलना होगा। और जब तक हिन्दी में ठीक रंगभूमि तय्यार नहीं होती तब तक भी हमें नाटक लिखने से विरत होने की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न हो सकता है, तो फिर नाटक की टेकनीक क्या है। क्या नाटककार का केवल यह लिख देना कि यह नाटक है, नाटक होगा? इसका उत्तर यह है कि कहानी या उपन्यास में जिन बातों का निर्वाह नहीं किया जा सकता, काव्य के द्वारा जो प्रकट नहीं किया जा सकता, वह नाटक है। नाटककार द्वारा निर्मित विशेष अवसर पर रंगभूमि या जीवन से सम्बन्ध रखने वाले दृश्यों पर वे गतिमान मात्र हैं, जो अपने आप अपना निर्माण करते हैं। उन्हें न तो अपने निर्माण के लिये नाटककार की आवश्यकता है न किसी लेख के तर्क या विश्वास की। उसमें कहानी या उपन्यास की तरह किसी की सहायता की आवश्यकता

नहीं है। वह अपने आप स्वयं है। जैसे हम अपना जीवन निर्माण करते हैं; ईश्वर हमसे आकर कुछभी नहीं कहता। वह तो स्वाभाविक गति से चलता है। नाटक में पात्र अपनी अभिव्यक्ति आप ही कर लेते हैं। नाटककार का काम तो उनके लिये वैसा साधन जुटा देनाभर है। इसलिये मैं नाटक की पुरानी टेकनीक में विश्वास नहीं करता। समय और स्थान का योग भी कोई नियम नहीं है, जिनके बिना काम न चल सके। हां गति नाटक का एक आवश्यक अंग है। शारीरिक-मानसिक चेष्टाएँ, संवाद संघर्ष चरित्र पूर्णता के लिये एक गतिमान व्यावहारिकता है जिसको छोड़ा नहीं जा सकता, परन्तु गति का अर्थ केवल भाग-दौड़, मार-पीट, चिल्लाना, गर्ज कर बातें करना नहीं है। गति का अर्थ केवल इतना ही है कि कथा मूक न हो जाय, बालक की सोकर दूसरे दिन बूढ़े हो जाने की सी अवस्था भी न हो।

व्यंग्य एवं प्रहसन

हिन्दी-साहित्य में भी अभी तक जिस दिशा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, वह है प्रहसन तथा व्यंग्य। प्रहसन एवं व्यंग्य साहित्य की सबसे बड़ी क्षमता और सामर्थ्य है। यह वह 'शूगर कोटड पिल्ज' है जो परिश्रम के बिना यथार्थ की ओर पाठक का ध्यान ही नहीं आकृष्ट करता, ले भी जाता है। सच तो यह है कि धर्म, राजनीति, समाज एवं व्यक्ति को ऊँचा उठाने के लिये इससे सुन्दर और कोई भी अभिव्यक्ति नहीं है। अंधविश्वास

अविवेक के लिये इससे बढ़कर औषध भी कोई नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि योरुप में इब्सन और गल्सवर्दी के नाटकों ने उच्च वर्ग के समाज की नसों को एकदम झकझोर डाला। यही नहीं, ऊंचे वैभव के शिखर से खड़े होकर देखने के उनके अभ्यास को खींचकर एक दम मैदान में लाकर खड़ा कर दिया। उन नाटकों के द्वारा शराब और धन की मस्ती और खुमारी भरी आँख में वास्तविकता की आंधी से जो किरकिराहट पैदा हो गई, उसने वहाँ की समाज को अपने को देखने का आदी भी बना दिया।

प्रहसन में मनोरञ्जन के साथ पाठक का वास्तविक चित्र भी होता है और व्यंग्य के मनोरञ्जन में वह स्वयम् (प्रहसन) हृदय का कुतूहल है और व्यंग्य मस्तिष्क का तर्कसंगत विज्ञान। सच पूछा जाय तो ये दोनों ही साहित्य के बड़े सूक्ष्म विभाग हैं। प्रहसन का असंबद्ध फैलाव बीभत्स है, व्यंग्य का बे-जोड़ बन्धन है कटुता, गाली-गलौज।

हमारे साहित्य में यह अङ्ग अभी अधूरा ही है; दो चार व्यक्तियों ने इस ओर जो प्रयास किया है वह उल्लेखनीय नहीं है।

सिनेमा

एक बात और—वर्तमान चित्रपट ने नाटक को बहुत धक्का पहुँचाया है। सिनेमा एक तरह से जीवन और विज्ञान का समन्वय है। जिसमें मनुष्य तो है पर उसका हृदय मोम का नहीं, मशीन का बना हुआ है। वह रसहीन मनुष्य के शरीर की

तरह है, जो विधाता के ऊपर अपना सब कुछ छोड़कर उसकी इच्छा या संकेत से रो या हँस पड़ता है। इसीलिये सिनेमा में प्राणरहित गीत है, रसहीन प्रेरणा है। वह मनुष्य की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं, कृत्रिमता है। मैं जानता हूँ उसमें मनोरञ्जन की क्षमता है, पर क्या वह मनोरञ्जन शाश्वत है? वह भाव एवं वाणी नाट्य होते हुए भी उस चित्र की तरह है जिसमें मूक पलक है, जिसमें मूक हृदय है। मनुष्य का सबसे बड़ा गुण उसका शाश्वत परिवर्तन है, उसके हाव-भाव, चेष्टा-व्यापार का निखर कर प्रकट होना है, तथा बराबर प्रकट होते रहना है। इसीलिये दर्शक कहता है कि अमुक सिनेमा का पात्र उस भाव को यथार्थ रूप से व्यक्त न कर सका। दूसरी बार चेष्टा करके भी वह 'शूटिंग' के समय वैसा न हो सका जैसे कि आशा की जाती थी। इस प्रयत्न एवं दिशा में बहुत कम सिनेमा के पात्र सफल हो पाते हैं। नाटक में यह दोष नहीं आ पाता।

जितनी बार वह रंगमंच पर प्रकट होगा उतनी बार उस की कला प्रौढ़ होगी और जितनी बार ही उसकी कला प्रौढ़ होगी, उतना ही वह रूपक का यथार्थ प्राण वहन करेगा।

यह ठीक है सिनेमा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दृश्यपरिवर्तन उसका प्राण है। वे स्थान जिनको नाटकों के रंगमंच पर प्रगट होने का अवसर नहीं मिल सकता, सिनेमा में बड़ी सरलता से बैठा दिये जा सकते हैं। मोटर भी चल सकती है, हवाई जहाज़ भी उड़ सकते हैं, सरपट दौड़ भी हो सकती है; युद्ध, आग, हत्या

सभी कुछ दिखाया जा सकता है, परन्तु इतने पर भी नाटक का स्थान अक्षुण्ण ही मानना पड़ेगा। नाटक बाह्य के साथ अन्तर की अभिव्यक्ति है, हृदय की अभिव्यक्ति है। वह रसमय जीवन लेकर चलता है। इसलिये मोटर, हवाई जहाज, समुद्र, पर्वत के दृश्य न होते हुए भी उसका प्राण तथा प्राणों के साथ रहने वाले व्यापार को मूर्तिमान होने की अधिक सम्भावना है। सिनेमा नाटक का प्रतिद्वन्दी नहीं है, वह तो उपन्यास का दृश्य रूप है। कहा नहीं जा सकता कि सिनेमा की इस कला का अन्त कहां होगा। सम्भव है एक दिन वह उपन्यास और नाटक को हड़प ले। इतने पर भी नाटक और उपन्यास का अस्तित्व नष्ट नहीं होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। जब तक मनुष्य में देखने की अपेक्षा पढ़ने का व्यसन रहेगा, दर्शक बनने की अपेक्षा एकान्त में बैठकर अनुभव करने का विचार बाकी रहेगा, तब तक उपन्यास और नाटक दोनों को कोई खतरा नहीं है।

उपसंहार

अब केवल एक बात कह कर मैं अपना यह निबन्ध समाप्त कर दूंगा। वह यह कि क्या कलाकार या लेखक का मनुष्य के भीतर झांक कर देख लेने और स्वाभाविक ढंग से उसकी अवस्था का दिग्दर्शन करा देने भर से उसकी कला की पूर्णता कही जायगी, और मनुष्य के सामने उसकी दिन-रात की समस्याएँ रख देने और यथाशक्ति उनका समाधान कर देने पर भी क्या उन समस्याओं का अन्त हो जायगा? क्या हम कला में अपने रूप

का यथार्थ दर्शन करके फिर और की ओर उन्मुख नहीं होंगे ? मेरे शब्दों में यों समझिये कि क्या हमारी यह प्रगति—यथार्थ दर्शन का यह रूप—ही हमारे लिये सब कुछ होगा ? क्या हम थोड़े दिनों बाद इस अवस्था से ऊब तो न जायेंगे। आज संसार के प्रत्येक व्यक्ति का भूतकाल का आधार भस्मीभूत हो गया है। नये-नये वादों, राजनीति के नये-नये रूपों, और धारणाओं के आधार पर वह एक नया संसार बसाना चाहता है, जिसमें मौन समस्याओं का हल होगा। व्यक्ति का समाज से सामंजस्य होगा। व्यक्ति भूख की चिन्ता से हटकर एक ऐसे समाज का निर्माण करेगा जिसमें विषमताएँ न होंगी; एक देश का दूसरे देश पर, एक जाति का दूसरी जाति पर, एक समाज का दूसरे समाज पर एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर आधिपत्य न होगा, न वहां डिक्टेटर-शिप होगी और न साम्पत्तिक कचोटन। योरुप का महायुद्ध हमारे लिये विश्व-समस्या को हल करने का एक साधन है। आज व्यक्ति को भूत के प्रति कोई लगाव नहीं है। वर्तमान उसकी समस्याएँ हैं, भविष्य उसका मोह। कलाकार भी अपने ध्यान में वही दिन देख रहा है, जब समस्त मानवमात्र का कल्याण वह अपनी लेखनी से कर सके। उस समय का यथार्थ उसकी वास्तविक कला होगी, जिसमें पैठकर उसका निर्माण पूर्ण होगा।

———

[१६]

हिन्दी कहानी की प्रगति

(प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त)

प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन की कला में जिस गम्भीर और गहरी धारा से हिन्दी-कहानी बही थी, उसे छोड़ अब वह नई-नई शाखाओं में फूटकर कुछ 'विपथगा'-सी हो रही है। हिन्दी-कहानी किसी एक परिपाटी का दासत्व नहीं मान रही, यह आशा का चिन्ह है। आधुनिक हिन्दी-कहानी में प्रेमचन्द ने प्राण फूके, प्रसाद, कौशिक और सुदर्शन ने उसे विकसित किया, अब वह जीवन-शक्ति से आकुल उन्नति के नये पथ खोज रही है।

हमारे प्रगतिशील गल्पकारों में जैनेन्द्र जी का नाम अग्रगण्य है। आप अनेक सुन्दर कहानियाँ लिख चुके हैं। आपके कई संग्रह भी निकल चुके हैं। आपकी 'खेल' नामक कहानी से प्रसन्न हो कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने यहाँ तक कह डाला था

कि 'हिन्दी में हमको रवि बाबू और शरत् बाबू अब मिले और एक साथ मिले !'

जीवन के बहुत उलझे हुए ताने-बानों से जैनेन्द्र जी बचते से हैं। आपके उपन्यासों में भी थोड़े-से ही पात्र होते हैं। जीवन की झाँकी-मात्र आपको रुचिकर है। उसी झाँकी द्वारा आप अपने गहनतम भावों को प्रकट कर देते हैं। गल्पकार का यही गुण होना चाहिये।

जैनेन्द्र जी ने अनेक ढंग की कहानियाँ लिखी हैं। 'मास्टर साहब' कुछ बंगाली वातावरण की; 'एक रात' कुछ रूसी पुट लिये; प्राचीन राजकुमार और शिल्पकारों की जीवन-गुत्थियाँ; रेल-यात्रा की रोचक घटनाएँ—आप जीवन के सभी क्षेत्र अपनाते हैं। टेकनीक आपका नवीन है, किन्तु आपकी कला की आत्मा भारतीय है। उन्नीसवीं शताब्दी में विदेशी कलाकारों का ऐसा नियम था कि पेंसिल और नोट-बुक लेकर घर से बाहर निकल पड़ते थे। जैनेन्द्र जी भी अपनी पेंसिल और नोट-बुक घर पर कभी नहीं भूलते।

जैनेन्द्र जी का कथानक सीधा और सुलझा हुआ होता है। मनोवैज्ञानिक गुत्थियों में ही कभी-कभी आप उलझ जाते हैं। जीवन का कोई एक अंग वह अपनाते हैं। जन्म-मरण की यहाँ समस्या नहीं। चरित्र-चित्रण ही लेखक का ध्येय है। इन कहानियों का आदि-अन्त कुछ नहीं। 'फोटोग्राफी' और 'खेल'

इसी शैली की कहानियां हैं। पश्चिम में यह शैली 'चेकॉफ' के साथ लोकप्रिय हुई थी।

इधर दो-एक वर्ष से जैनेन्द्र जी की कला ने जो रूप लिया है, उससे चिन्ता होती है। अधिकाधिक आप दर्शन में फँसते जा रहे हैं। जार्ज इलियट की कला के लिए भी दर्शन घातक सिद्ध हुआ था। आपकी नई लम्बी कहानी 'त्याग पत्र' पढ़कर हमको भारी संतोष हुआ। ऐसी व्यथा, कठिनता और स्वाभाविकता उच्च-कोटि के साहित्य में ही मिल सकती है।

श्री चन्द्र गुप्त विद्यालंकार उच्च-श्रेणी के आलोचक हैं। हिन्दी कहानी-साहित्य पर आपका निबन्ध अभूतपूर्व रूप से निर्भीक और गम्भीर था। आपने अनेक रोचक कहानियाँ लिखी हैं। 'तांगेवाला' नाम की कहानी हमको विशेष अच्छी लगी। आपने गल्प-कला के सम्बन्ध में शायद बहुत कुछ सोचा है। आपकी 'क ख ग', 'एक सप्ताह', 'चौबीस घण्टे' आदि कहानियों से यह स्पष्ट है। 'क ख ग' जीवन के तीन विभिन्न चित्र हैं। तीनों में रक्तपात और मृत्यु है। रेल, स्टेशनों और ग्राम्यजन का स्वाभाविक वातावरण है। टेकनीक उत्कृष्ट है। 'क ख ग' यह तीनों चित्र मिलकर जीवन का व्यापक चित्र बन जाते हैं।

'एक सप्ताह' पत्रों द्वारा वर्णित कहानी है। पहाड़ के ग्रीष्म जीवन का यहाँ रोचक परिचय मिलता है। कथानक नहीं के बराबर है। सप्ताह भर में एक युवक प्रेम, निराशा सभी अनुभव कर वापस लौट आता है।

'चौबीस घण्टे' में भूकम्प द्वारा एक दिन में घटित परिवर्तन का हाल है।

समय और कला का कहानी में मूल्य कम होता जा रहा है। जन्म-मरण पर्यन्त मनुष्य-जीवन रोचक नहीं होता। जीवन के कुछ मूल्यवान क्षण लेकर ही आधुनिक कलाकार उन पर तीव्र-तम प्रकाश डालता है।

चन्द्रगुप्त जी कहानी के बाह्य रूप में अधिक लीन रहे हैं। टेकनीक में किये आपके अन्वेषण और अनुसंधान हिन्दी-कहानी की उन्नति में विशेष सहायक होंगे।

'अज्ञेय' जी की कला में बेहद बल और शक्ति है। आपके हृदय में अग्नि प्रज्वलित है, उसी की ज्वाला आपकी कला में भी झलक जाती है। हिन्दी-कहानीकारों में आपकी कला में ही सबसे अधिक विप्लव और क्रान्ति की भावना है। आपने नवीन पाश्चात्य कथा-शैली को अपनाया है। उसकी स्पष्ट छाया 'प्रतिध्वनियाँ' और 'कड़िया' शीर्षक कहानियों में है। मनुष्य के मन में अनेक असम्बद्ध भाव उठते रहते हैं—अनेक चित्र एक साथ बनते, बिगड़ते हैं। उन्हीं का चित्रण इन कहानियों में हुआ है। 'कड़ियाँ' हिन्दी-साहित्य की निधि होगी। मनुष्यमात्र की बिखरी भाव-नाओं को—उसकी आशा, निराशा, हर्ष, उन्माद को—कलाकार ने यहाँ बटोर कर रखा है। बार-बार उसके खींचे शब्द-चित्र हमारे मन में घूम जाते हैं।

'अज्ञेय' जी में काव्य का अंश भी यथेष्ट मात्रा में है। यह

आप की 'अमर-वल्लरी' नाम की कहानी में प्रकट हुआ है। पीपल के पेड़ ने जीवन के अनेक दृश्य देखे हैं। शताब्दियों से वह प्रहरी की भांति सिर उठाये यहाँ खड़ा है। अमर-वल्लरी उसके कण्ठ की माला बनी हुई है। किन्तु पीपल अब वृद्ध हुआ। उसकी धमनियों में रक्त-संचार धीमा पड़ गया है। जीवन के अनेक दृश्य उसने देखे हैं। नित्य प्रभात और संध्या की मधु-वेला में स्त्री-पुरुष आकर उसके ऊपर पत्र-पुष्प चढ़ा जाते हैं। वरदान की इच्छुक ललनाएँ उसका आलिंगन करती हैं, किन्तु वह अशोक की भांति फूल कर उन्हें उऋण नहीं कर सकता। जीवन के कितने रहस्य उसके हृदय में छिपे पड़े हैं ?

कुछ इस ही ढंग की कहानियां हाल में श्री यशपाल ने लिखी हैं। आपकी कहानियों की पटभूमि विशेष सुन्दर बनती है।

श्रीयुत भगवती चरण वर्मा की कहानियों में विद्रोह-भावना और एक प्रकार की उच्छृङ्खलता-सी है। नवीन शिक्षा और आविष्कारों के साथ जो युग भारत में आया है, उसके आप प्रतिनिधि हैं। इस नवयुग की हलचल, अशान्ति और उतावलापन आपकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित हैं। आप के कहानी-संग्रह 'इन्स्टालमेण्ट' का शीर्षक ही इसका द्योतक है। चाय की प्याली के साथ आपकी प्रत्येक कहानी का आरम्भ होता है। कार, सुरा-पान, अनियन्त्रित प्रेम, 'इन्स्टालमेन्ट' द्वारा ऋण-परिशोध—यह इस मशीन-युग की साधारण बातें

हैं। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की मीमांसा में आप विशेष व्यस्त रहते हैं।

डा० धनीराम 'प्रेम' भी इस नवीन युग के वाहकों में हैं। आपकी कहानी 'डोरा' काफी लोकप्रिय हुई। सहशिक्षा और पाश्चात्य रीति-नीति से भारतीय सामाजिक जीवन में जो क्रान्ति हो रही है, उसकी छाया आपकी कृतियों में है।

हिन्दी-कहानी हमारे जीवन से कटकर अलग नहीं हो गई, यह संतोष की बात है।

श्री अन्नपूर्णानन्द बीती हुई बातों पर सुंदर ढंग से विनोद-पूर्ण रचना करते हैं। आपकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह होता है। कहानीकार के आप में दैवी गुण हैं। हमें खेद है कि अपनी शक्ति का आप पूर्ण प्रयोग नहीं करते।

आज हिन्दी-कहानी की प्रगति उमड़ी हुई वर्षा-नदी के समान है। अनेक सुप्रसिद्ध कहानीकारों के नाम मन में उठते हैं। कई वर्षों से श्री कृष्णानन्द गुप्त सुन्दर कहानी लिखते आरहे हैं। आपकी कहानी सदैव रोचक होती है। आपका कथानक स्वाभाविक और चरित्र-चित्रण कुशल होता है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अच्छी कहानियां लिखी हैं। 'उग्र' ने कुछ वर्षों का मौन तोड़कर फिर लेखनी संभाली है। पं० विनोदशंकर व्यास में भावुकता और श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी में कला के प्रति विशेष आकर्षण है। हमारे विचार से आपकी प्रतिभा के बौर फलरूप में परिणत न हो पाये।

जो और किसी युग में कहानी नहीं लिखते, वे भी आज कहानी लिख रहे हैं। 'पन्त' अथवा 'निराला' सर्व प्रथम तो कवि हैं। पन्त जी की 'पांच कहानियाँ' में सुन्दर रेखा-चित्र है। भाषा प्राँजल और प्रवाहमयी है। इन कहानियों को पढ़ने में गद्य-काव्य का आनन्द आता है। शिक्षित समुदाय के विचार-व्यवहार की पन्त जी को सहज सूझ है। आप की कला में तितली-पंखों सी चमक है। हमें दुःख है कि इन कहानियों में भारतीय जीवन की निराशा के अन्तरतम तक पन्तजी नहीं पहुँचे।

हिन्दी-कहानी में चारों ओर आज जीवन और जागृति के चिन्ह हैं। किन्तु इस निबन्ध में हम केवल नवीन धाराओं की प्रगति देख रहे हैं, आधुनिक हिन्दी-कहानी का इतिहास नहीं लिख रहे।

इस जागृति-काल में अनेक स्त्री-कहानीकार हुई हैं। शिवरानी देवी, कमला चौधरी, उषादेवी मित्रा आदि। शिवरानी देवी प्रेमचंद के पथ पर चल रही हैं—जो स्वाभाविक है। श्रीमती कमला चौधरी की कहानियों में काव्य प्रेरणा, सरलता और उल्लास है। गृह-जीवन आपका विशेष क्षेत्र है। स्त्रियों के दुःख आप सहज ही और मार्मिक भाषा में व्यक्त करती हैं। 'साधना का उन्माद' और 'मधुरिमा' में जो स्त्री हृदय की सूझ है, वह पुरुष लेखकों की परिधि के सर्वथा बाहर है। उषा देवी मित्रा की भाषा में काव्य और लालित्य रहता

है। आपकी 'जीवन-संध्या' शीर्षक कहानी हमको अच्छी लगी। श्रीमती होमवती देवी ने विशाल भारत में कुछ सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। आपकी रचनाओं में नारीत्व-सुलभ सुकुमारता और कोमलता रहती है।

हिन्दुस्तानी के आन्दोलन से हिन्दी-साहित्य को विशेष लाभ हुआ है। अनेक उर्दू लेखकों ने हिन्दी में लिखने का प्रयत्न किया है। इनमें प्रो० अहमद अली और श्रीयुत सज्जाद जहीर के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रो० अहमद अली की कहानी 'हमारी गली' हिन्दी के लिये एक नई चीज थी। गली की दुकानों के, दुकानदारों के, राहगीरों के इसमें सूक्ष्म चित्र हैं। यथार्थवाद का और योरुपीय कहानी की नवीनतम 'टेकनीक' का यह उत्कृष्ट नमूना है। इसकी भाषा भी कहीं-कहीं खूब ऊँची उठी है—विशेष कर अजों की प्रतिध्वनि के वर्णन में।

प्रेमचंद जी ने हमारे ग्राम्य और गार्हस्थ्य-जीवन पर ज्योति की वर्षा की थी। आपकी अधिकतर कहानियाँ घटना-प्रधान थीं। मनुष्य के हृदय की यहाँ सच्ची और अच्छी परख थी। हिन्दी-कहानी कई वर्ष तक आपके दिखाये पथ पर चली। जीवन-प्रेरणा और विकास के नियमों से उत्सुक अब वह नई दिशाओं की ओर उन्मुख हो रही है।

हिंदू परिवार और सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन हो रहा है, उसका प्रतिविम्ब हमको इन नये कहानीकारों की रचना में दीखता है। हमारे जीवन-पथों में जो नवीन विचार-

धाराएँ बह रही हैं, विप्लव और विद्रोह की जो प्रबल भावनाएं जागृत हुई हैं—उनका यहाँ भविष्य के लिए इतिहास लिखा मिलेगा।

किन्तु मूक जनता को भूलकर केवल मध्यम-वर्ग की मनोवृत्तियों के अन्वेषण में हिन्दी-कहानी का तन्मय हो जाना अहितकर होगा।

कला की दृष्टि से हिन्दी कहानी ने अनेक अनुसंधान किये हैं। मनोविज्ञान और यथार्थवाद की ओर हमारा ध्यान अधिक खिंचा है। कथा-शैली में अनेक परिवर्तन हुए हैं। बहुत कुछ हमने खो दिया है, किन्तु और भी बहुत कुछ पा लिया है।

[१७]

प्रगतिवाद और हिंदी पर उसका प्रभाव

(चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार)

(१)

प्रगति जीवन का आवश्यक अंग है, यहाँ तक कि 'जीवन' और 'गति' इन दोनों को एक दूसरे के लिए अपरिहार्य माना जाता है। और गति के दो ही रूप हो सकते हैं—प्रगति और अवगति, स्पष्टतः इन दोनों में से प्रगति ही अभीष्ट है। विकास-वादियों का कहना है कि जीवन में स्थिरता कभी नहीं आती; कभी वह प्रगतिशील होता है और कभी अवगतिशील। उन्नति और ह्रास—ये दोनों शक्तियाँ विश्व में काम कर रही हैं। और स्वभावतः साहित्य भी कभी प्रगतिशील हो जाता है, और कभी अवगतिशील।

परन्तु साहित्य में प्रगतिशील स्कूल का उद्‌देश्य उपयुक्त अभिप्राय की अपेक्षा बहुत सीमित अर्थों में है। सच बात तो यह है कि 'साहित्य में प्रगतिवाद' की कोई एक परिभाषा करना बहुत ही कठिन है। साहित्यिक प्रगतिशीलता इन अर्थों में ली जाती है—

१. जो साहित्य परिवर्तन और क्रान्ति की भावना को उकसाता है, वह प्रगतिशील है।

२. जो साहित्य यथार्थवादी (Realistic) है, वह प्रगतिशील है।

३. जो प्रवृत्तियाँ साहित्य को जनता की चीज़ बना रही हैं, प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ हैं।

४. जिस साहित्य में निम्न श्रेणियों (Proletariat) का चित्रण है, वह प्रगतिशील है।

५. जो साहित्य किसी ऊँचे या उपयोगी (Utilitarian) उद्देश्य से लिखा जाता है, वह प्रगतिशील है।

६. जो साहित्य समाजवाद (Communism) का पोषक है, वही प्रगतिशील है।

७. जो साहित्य पुरानी शैली पर नहीं लिखा गया है, जिसमें किसी क़िस्म का कोई नयापन है, वह प्रगतिशील है।

मुमकिन है कि 'प्रगतिवाद' शब्द इन उपर्युक्त सात अर्थों के अतिरिक्त, दो-चार और अर्थों में भी प्रयुक्त किया जाता हो।

यदि साहित्यिक प्रगतिशीलता का अभिप्राय साहित्य को श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम बनाने का प्रयत्न हो, तब तो उसके ख़िलाफ़ कोई बात कहीं नहीं जा सकती। परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, साहित्यिक प्रगतिशीलता शब्द का प्रयोग प्रायः सीमित और कुछ हद तक संकुचित अर्थों में ही किया जाता है।

यहाँ मुझे प्रगतिवाद स्कूल की उत्पत्ति और विस्तार का

इतिहास नहीं देना। यहाँ इतना ही निर्देश करना काफ़ी है कि संसार भर में आज बीसियों विभिन्न प्रगतिवादी संस्थाएं विभिन्न अर्थों में प्रगतिवाद शब्द का व्यवहार कर रही हैं, और प्रत्येक संस्था अपने अर्थको ही वास्तविक प्रगतिवाद मानती है। उदाहरण के लिए हिन्दोस्तानी प्रगतिवादी संघ (Progressive Writers' Association) पर शुरू २ में गांधीवाद का प्रभाव था, उसके बाद बहुत जल्द हिन्दोस्तानी प्रगतिवादी साम्यवादी विचारों के प्रचार को प्रगतिवाद मानने लगे। उसके बाद प्रगतिवादी संघ (Progressive Writers' Association) का बहुमत कम्यूनिस्ट बन गया और अल्पमत रेडिकल डैमोक्रेट। इसी तरह पी० ई० एन० (P. E. N.) प्रगतिवाद शब्द का प्रयोग और अर्थों में कर रहा है। अमेरिकन प्रगतिवादी अब स्पष्टतः कम्यूनिज्म के विरुद्ध हो गये हैं। जबकि इस युद्ध से यूरोप के अधिकांश देशों के बहुत से प्रगतिवादी लेखक हिन्दोस्तान के प्रगतिवादी लेखकों के बहुमत के समान, कम्यूनिस्ट विचारों के प्रचार को अपना ध्येय मानने लगे थे। हाल ही में, राजनीति के उतार-चढ़ाव के साथ, उनका रवैया भी बदलने लगा है।

साहित्यिक प्रगतिवाद का चाहे जो भी रूप स्वीकार किया जाय, उसके पक्ष में ये तीन बातें अवश्य कही जा सकती हैं—

१. बहुत समय से साहित्य अनेक तरह की रूढ़ियों और अपरिवर्तनशील बन्धनों से जकड़ा चला आ रहा था। ये बन्धन और ये रूढ़ियाँ मध्ययुग में और भी अधिक कठोर बन गई थीं।

प्रगतिवाद ने साहित्य को उन बन्धनों से पूरी तरह मुक्त कर दिया है।

२. श्रेष्ठ साहित्य पर यद्यपि सर्वकालीन और सार्वभौम सच्चाइयों की छाप सदा से विद्यमान है, तथापि साहित्य का क्षेत्र अवश्य ही बहुत संकुचित चला आया है। मानव जाति के एक बहुत सीमित हिस्से का प्रतिबिम्ब साहित्य में झलकता रहा है और उसका उद्देश्य भी राजाओं, महाराजाओं अथवा थोड़े से कुलीनों का मनोविनोद और उनकी शिक्षा रहा है। कला के अन्य अंशों के समान साहित्य का क्षेत्र और साहित्य का प्रभाव ये दोनों बहुत सीमित रहे हैं। उन्नीसवीं सदी में इस सम्बन्ध में एकतरह से क्रान्ति होगई और साहित्य का क्षेत्र और प्रभाव दोनों ही बहुत बढ़ गये। अब प्रगतिवाद की लहर ने सच्चे और पूर्ण अर्थों में साहित्य को मनुष्य मात्र की चीज बना दिया है।

३. 'कला-कला के लिए' (Art for art's sake) के पक्ष और विरोध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। वह एक लम्बी बहस है, जिसमें पड़ना यहाँ मुझे अभिप्रेत नहीं है। मैं व्यक्तिगत रूप से 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त का अनुगामी हूं। तथापि साहित्य का मनुष्य के विचार और चरित्रनिर्माण पर जो गहरा प्रभाव पड़ता है, कोई समझदार व्यक्ति उसकी अपेक्षा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से यह न केवल अभीष्ट है, अपितु आवश्यक है कि जनमत अपने लेखकों से इस तरह के साहित्य के निर्माण की माँग करे जो कि राष्ट्र और मानव जाति की समस्याओं को

हल करने में सहमत हो। इस दृष्टि से प्रगतिवाद के आन्दोलन ने सचमुच काफी सराहनीय काम किया है।

इस तरह तीन ही बातें मैं यहाँ प्रगतिवाद आन्दोलन की आलोचना के रूप में कहूंगा–

१. एक तरफ प्रगतिवाद ने जहाँ साहित्य का क्षेत्र विस्तृत किया है, वहाँ दूसरी तरफ प्रगतिवादी साहित्य के क्षेत्र को बहुत अधिक सीमित और संकुचित भी करते जा रहे हैं। यदि प्रगतिवादी साहित्य के परम्परागत पुराने क्षेत्र को उन्मुक्त कर उसे पूर्णतः 'निर्बाध' बना देते, तब तो ठीक था। परन्तु उन्होंने पुरानी सीमाएँ तोड़ कर नई सीमाएँ खड़ी कर दी हैं। और कुछ उदाहरणों में तो ये नयी सीमाएँ पुरानी सीमाओं से भी अधिक कठोर हैं। मसलन कम्युनिस्ट विचारों का प्रगतिवादी कभी इस बात को सहन न करेगा कि कोई प्रतिभाशाली लेखक किसी पूँजीपति का चित्रण प्रशंसात्मक सहानुभूति के साथ करे। प्रगतिवाद की यह बहिष्कार मनोवृत्ति (Exclusive tendency) मेरी राय में प्रशंसनीय नहीं है। यह तो माना कि कविता को नख-शिख वर्णन तक सीमित रखना हिमाकत है, परन्तु नख-शिख वर्णन को साहित्य में जगह ही न देना भी तो एक हिमाकत ही है।

२. प्रगतिवादियों का कथन है कि मनुष्य के चरित्र और विचारों पर साहित्य का जो अचूक प्रभाव पड़ता है, उससे हमें अवश्य पूरा लाभ उठाना चाहिए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण

बीसवीं सदी की तीसरी और चौथी दशाब्दी में लिखा गया रूसी साहित्य है, जिसने वर्तमान रूस को बनाने में बहुत बड़ा काम किया है। मक्सिम गोर्की (Mother आदि के लेखक), शोलोखोव (And Quiet Flowst he Don आदि के लेखक), एलक्सी टाल्स्टाय, (Road to Calvary के लेखक), वान्दा वासुल्यिस्का (Rainbow की लेखिका) आदि कम्युनिस्ट रूसी लेखकों ने रूस में कम्युनिज्म का प्रचार करने में जो सहायता दी है, वह लेनिन, स्टालिन और मोलोटोव आदि के अनथक प्रयत्नों के मुक़ाबले में रखी जा सकती है।

यहाँ तक तो ठीक। सर्वश्रेष्ठ कोटि के लेखक इतने समर्थ होते हैं कि वे अपनी रचनाओं को समतुलित, निस्संग और कलापूर्ण ढंग से रख सकें। परन्तु दूसरी ओर तीसरी श्रेणी के लेखक, उपयोगितावाद की लहर से प्रभावित होकर जो अनर्थ कर जाँय, वह थोड़ा है। स्वयं रूसी साहित्य में, विशेषतः जो साहित्य १९२५ से १९३० तक लिखा गया, इस तरह के सस्ते प्रगतिवादी साहित्य की कमी नहीं है। हमारे देश में मजदूरों और किसानों के लिए सहानुभूति के नाम पर जो अस्वाभाविक साहित्य दिया जा रहा है, उसे मध्ययुग के नायिकाभेदी साहित्य से भी बढ़ कर कूड़ा-करकट कहा जा सकता है।

इस बात का एक बहुत बड़ा उदाहरण इस महायुद्ध में मिला है। प्रगतिवादियों ने फासिज्म-विरोध को अपना होम-फ्रण्ट बनाया था। सब प्रगतिशील लेखकों से आशा की जाती थी कि

वे न सिर्फ़ फासिज्म के, बल्कि शत्रु देशों के विरुद्ध अधिक से अधिक उत्तेजक भाषा में 'साहित्य' लिखेंगे। एक तरह से सभी प्रगतिशील साहित्यिक युद्ध-प्रचार-विभाग (War Propaganda Dept.) के वैतनिक या अवैतनिक प्रचारक बन गये थे। इस उद्देश्य से जो साहित्य लिखा गया, उसका ५–६ प्रतिशत तो निस्सन्देह श्रेष्ठ साहित्य है, क्योंकि वह गहरी अनुभूति और सच्ची कलात्मक प्रेरणा के आधार पर लिखा गया है। करीब ३३ या ३४ प्रतिशत कूड़ा-कचरा है, जिसका एकमात्र उपयोग अपनी जन्मभूमि से हज़ारों मील, शत्रु से मोरचा लेते हुए सैनिकों का मनोविनोद करना था; और मैं यह मानता हूं कि यह उपयोग भी कुछ बुरा नहीं था। इस ३३प्रतिशत को मैं भरती का साहित्य कहना पसन्द करूँगा। परन्तु शेष ६० प्रतिशत साहित्य मेरी राय में विशुद्ध जहर से कम ख़तरनाक नहीं है, क्योंकि उसमें मानव जाति के एक हिस्से के प्रति गहरी घृणा कूट कूटकर भरी हुई है। मैं यह मानता हूँ कि साहित्य का यह दुरुपयोग सबसे पहले फासिस्ट देशों ने ही शुरू किया था, परन्तु इस दलील से इस तरह के ज़हरीले साहित्य की सफाई पेश नहीं की जा सकती।

यह मैं मानता हूँ कि युद्ध के दिनों में विभिन्न देशों के प्रोपेगण्डा विभाग अपने शत्रुओं के विरुद्ध चाहे जितने भयंकर ज़हर का प्रचार कर सकते थे, परन्तु प्रगतिशील साहित्य ने उन दिनों जिस तरह भयंकर नफरत और प्रतिहिंसा का जामा पहन लिया, वह अवश्य ही मनुष्य जाति का अकल्याण करने वाला है।

३—प्रगतिशीलता के वतमान आन्दोलन के विरुद्ध मुझे तीसरी शिकायत यह है कि वे प्रत्येक लेखक से अपनी मांग के अनुसार साहित्य रचवाना चाहते हैं। कलाकार या लेखक आख़िर कोई सुनार या दर्ज़ी नहीं है, जिससे चाहे जिस ढङ्ग का गहना गढ़वाया या जिस नाप का कपड़ा सिलवाया जा सके। यह तो कुछ हद तक साहित्यिकों को पुनः भांडों की श्रेणी तक ले आने की सी बात है। यह हुक्म के मुताबिक साहित्य रचना करवाने की शैली स्पष्टतः साहित्यिक उन्नति में बाधक है।

वर्तमान प्रगतिशील आन्दोलन के स्वरूप तथा उसके पक्ष और विपक्ष में इतनी बातें कह कर मैं इस बात का निर्देश अवश्य कर देना चाहता हूं कि मेरी व्यक्तिगत राय में प्रगतिवाद का क्या रूप होना चाहिये, ताकि हिन्दी साहित्य पर प्रगतिवाद के प्रभाव के सम्बन्ध में जो कुछ कहने जा रहा हूँ, उसका उचित मूल्यांकन हो सके।

मेरी राय से साहित्य में 'प्रगतिवाद' शब्द का मूल्य बहुत अधिक नहीं है, और न प्रगतिवाद के आधार पर साहित्य की श्रेष्ठता और हीनता का अन्दाज़ा ही लगाया जा सकता है। साथ ही मैं प्रगतिवाद के आन्दोलन को एकदम अनावश्यक या हानिकर भी नहीं मानता। प्रगतिवाद की सीमित उपयोगिता मैं स्वीकार करता हूँ। जिस साहित्य में किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की नयी वर्तमान या भविष्य की भावनाओं, अनुभूतियों या नये आदर्शों, चाहे वे अचिरस्थायी ही क्यों न हों, का चित्रण हो

उस साहित्य को मैं प्रगतिशील मानता हूँ। एक शब्द में कहना हो तो उपयोगितावाद स्कूल का साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा है, उसी का नाम प्रगतिवाद है।

परन्तु कोई साहित्य इसी लिए श्रेष्ठ नहीं माना जायगा क्योंकि वह प्रगतिवादी है, और कोई साहित्य इस आधार पर हीन नहीं होगा क्योंकि वह प्रगतिवादी नहीं है। साहित्य की श्रेष्ठता या हीनता का मूल्यांकन तो उसकी आन्तरिक शक्ति या अन्तर्हित रसात्मकता के आधार पर ही किया जायगा।

(२)

हिन्दी पर प्रगतिवाद की लहर का प्रभाव पहले पहल सन् १९३० के आस-पास पड़ा। उससे पहले भी हिन्दी की पुरानी परम्पराओं और रूढ़ियों के खिलाफ़ हिन्दी में एक तरह की ज़बरदस्त क्रान्ति तो चल ही रही थी। मध्ययुग में संस्कृत साहित्य जिस तरह नियमों की भयंकर शृङ्खलाओं में जकड़ दिया गया और साहित्यकारों को किसी तरह की कोई स्वाधीनता बाकी नहीं रह गई थी, उसका प्रभाव स्वभावतः नयी हिन्दी पर भी पड़ा था, विशेषकर उन्नीसवीं सदी की हिन्दी कविता पर। पहले महायुद्ध के बाद उन परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध एक लहर उठ खड़ी हुई और सन् १९३० के आस-पास इसी लहर ने प्रगतिवाद के आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

प्रगतिवाद की लहर से हिन्दी के नये पुराने बहुत से लेखक प्रभावित हुए। पुराने लब्धप्रतिष्ठ लेखकों में श्री सुमित्रानन्दन

पन्त और श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। बीसवीं सदी की तीसरी दशाब्दी (सन १९२१ से सन् १९३०) तक ये दोनों कवि छायावादी कवि माने जाते थे। प्रगतिवाद की लहर ने उनका दृष्टिकोण इतना बदल दिया कि वे अपने आस-पास की दुनिया को अब नयी नज़र से देखने लगे ! इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण उनकी 'ताजमहल' पर लिखी दो कविताएँ हैं। पन्तजी ने 'ताजमहल' पर पहली कविता सम्भवत: सन् १९२४ में लिखी थी। इस कविता में उन्होंने ताज-महल को 'दो नश्वर व्यक्तियों के अमर प्रेम का शाश्वत स्मारक' आदि कहा था। ताजमहल की कला-पूर्ण इमारत के संबन्ध में बहुत सी कवितापूर्ण प्रशंसनात्मक भावनाएँ इस कविता में व्यक्त की गयी थीं। "ताजमहल" ही पर दूसरी कविता पन्त ने अक्तूबर १९३५ में लिखी। इस कविता में उन्होंने लिखा—

[illegible], मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
नग्न, क्षुधातुर, वासविहीन रहे जीवित जन !
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !!
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बनादें शव का ?'

वही ताज जो दस साल पहले पन्त जी को 'प्रेम का अमर स्मारक' मालूम हुआ था, अब मनुष्य की 'मूर्खता का अमर स्मारक' मालूम हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि जब हिन्दोस्तान के लाखों ग़रीब खुली सड़कों के किनारे सरदी और गरमी की रातें

काटते हैं, दो मुरदा शव करोड़ों रुपयों के बहुमूल्य ताजमहल में सदियों से एकाधिकार जमाये हुए हैं। चीज़ वही थी, सिर्फ़ देखने वाले की निगाह बदल गयी।

नये लेखकों को प्रगतिवाद की इस लहर ने और भी अधिक प्रभावित किया। सन् १९३४ के आस-पास से प्रगतिवाद हिन्दी में एक फैशन-सा बन गया। बहुत से नये लेखक प्रगतिवादियों की प्रथम श्रेणी में आने के लिए नये से नये विषय और ढंग तलाश करने लगे।

यह नयी प्रवृत्ति हिन्दी के लिए सचमुच बहुत अधिक शुभ होती, यदि हिन्दी के नये पुराने प्रगतिवादी लेखक किसी विशेष जमात, समाज, राष्ट्र या समूची मानव जाति की किसी समस्या का गम्भीर अध्ययन और मनन कर उसके सम्बन्ध में पूर्ण अनुभूति के अनुसार किसी साहित्यिक रचना का निर्माण करते। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। प्रगतिशील लेखकों ने ग़रीबों, मज़दूरों और किसानों के सम्बन्ध में लिखना तो शुरू किया, परन्तु उनकी वास्तविक समस्याओं और वास्तविकताओं से स्वयं परिचित होने का गम्भीर प्रयत्न नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि इस तरह के साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग न सिर्फ़ स्पष्टतः अस्वाभाविक, अवास्तविक और अनुपात-रहित बन गया है, अपितु उसे पढ़कर ग़रीबों और मज़दूरों के प्रति सच्ची सहानुभूति भी उत्पन्न नहीं होती। अनेक जगह तो उसे पढ़कर हँसी आती है। हिन्दोस्तान के प्रगतिवादी अपने साहित्य की बड़ी सेवा

करेंगे, यदि वे इस तरह के सस्ते साहित्य को किसी तरह का प्रश्रय न देने का निश्चय कर लें।

अन्य सब साहित्यिक आन्दोलनों के समान प्रगतिवाद का भी सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी कविता पर पड़ा है। आये दिन पत्र-पत्रिकाओं में बीसों कविताएँ ऐसी प्रकाशित हो रही हैं कि जिनकी एकमात्र विशेषता यही है कि कम से कम उनके लेखक उन्हें 'प्रगतिवादी कविता' कहते हैं। कवि-सम्मेलनों में तो इस तरह की कविताओं की बहुतायत रहती ही है। सस्ती भावुकता हिन्दी कविता में यों भी बहुत थी; प्रगतिवाद के आन्दोलन ने उसको और भी अधिक उकसाया है।

हिन्दी प्रगतिवाद के प्रमुख पत्र 'हंस' में प्रकाशित हुई प्रगतिवादी कविताओं के कुछ नमूने इस प्रकार हैं—एक कविता है 'ख़रीफ़ के खेत'। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं—

लिये टट्टी का लोटा हाथ
चले पटवारी खेतों ओर
तोड़ दस बारह मोटी बाल
बढ़ा दीं उसने उनकी ओर
विषम कर जीवन के लघु याम
बीतती जाती है बरसात।
....
लिये लाला के मीठे बोल
बीतती जाती है बरसात
....

मूंद कर विभु के छोटे कान
बीतती जाती है बरसात।

एक 'जागरण गान' इस प्रकार है—

हरेक तार सांस का बजाये चल,
बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल!
अजेय आत्मा का बल दिखाये चल,
दिखाये चल, दिखाये चल, दिखाये चल
दहाड़ते लहू का रव गुंजाये चल,
गुंजाये चल, गुंजाये चल, गुंजाये चल!

परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि सभी प्रगतिवादी कविताए इसी तरह हीन कोटि की अथवा सस्ती भावुकता से भरी हुई हैं। पिछले दस सालों में हिन्दी कविता ने बहुत अधिक उन्नति की है और इस दिशा में प्रगतिवादी कवियों की देन भी कम नहीं है। इन श्रेष्ठ प्रगतिवादी कवियों में सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त, भगवती चरण वर्मा और नरेन्द्र प्रमुख हैं। सर्वश्री बच्चन, महादेवी वर्मा, निराला, उदयशंकर भट्ट, प्रेमी आदि लब्धप्रतिष्ठ कवियों ने ऐसी बहुत सी कविताएँ लिखी हैं, जिनका प्रगतिशील हिन्दी साहित्य में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रगतिशील कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के सम्बन्ध में यह निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि वह अपनी बौद्धिक धारणाओं के कारण प्रगतिवादी बने हैं। प्रकृति और मानवजगत् की कोमलताओं का चित्रण करते-करते उन्हें ध्यान आया कि इन्हें

भारतवर्ष की जनताजनार्दन की सेवा करनी है। साम्यवादी और कम्यूनिस्ट साहित्य का अध्ययन कर उनमें वर्गवाद की चेतना उद्बुद्ध हो गई थी; इस चेतना के आधार पर वह बूर्जुआ श्रेणी जिसकी संस्थाओं सौर प्रथाओं को वह फ्यूडल पद्धति कहते हैं, के उद्देश्य से काव्यरचना न कर जनसाधारण (Proletarians) के लिए काव्यरचना करने लगे। पन्तजी हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवि हैं, इस कारण अपने इस नये प्रयत्न में उन्हें सफलता तो मिली, परन्तु यह सफलता आंशिक है। पन्त जी स्वयं कालाकांकर राज्य की ज़मींदारी में जाकर रहे और वहां उन्होंने आस-पास के ग्रामीण दृश्यों और किसानों के स्वभाव तथा समस्याओं को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया। इसी कारण ग्रामीण परिस्थितियों का, लहलहाते खेतों का और ग्रामीण समाज का बहुत ही सुन्दर और मार्मिक चित्रण उन्होंने अपनी कविताओं में किया है।

ग्रामीण जनता के बारे में उन्होंने कहा है—

ये जीवित हैं या जीवन्मृत ?
बाम्हन, ठाकुर, लाला, कहार,
कुर्मी, अहीर, बारी, कुम्हार,
नाई, कोरी, पासी, चमार
शोषित किसान या ज़मींदार,—
ये हैं खाते-पीते, रहते,
चलते-फिरते, रोते-हँसते,

लड़ते-मिलते, सोते-जगते,
आनन्द नृत्य उत्सव करते—
पर जैसे कठपुतले निर्मित
छल प्रतिमाएँ !
ये दारु मूर्तियां हैं चित्रित,
जो घोर अविद्या में मोहित,
ये मानव नहीं, जीव शापित,
चेतना विहीन, आत्म विस्मृत।

और भी; इन गाँवों में—

यहाँ खर्व नर-बानर रहते युग-युग से अभिशापित,
अन्न-वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि पंक में पालित,
यह तो मानवलोक नहीं है रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम—सभ्यता संस्कृति से निर्वासित !

गाँव के लड़कों के बारे में पन्त जी कहते हैं—

मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण वसन,
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के—भू के धन !
ये सुखी या दुखी ? पशुओं से
जो सोते जागते सांझ-प्रात !
इन कीड़ों का भी मनुज बीज
यह सोच हृदय उठता पसीज

मानव प्रति मानव की विरक्ति
उपजाती मन में क्षोभ खीज !

इसी तरह गाँव की शोभा, चमारों का नाच, धोबियों का नाच, कहारों का नाच, तीर्थ नहान, गाँव के ऊपर का आस्मान, गाँव के मौसम, गाँवों की दशा, आदि के बारे में बहुत मार्मिक सुन्दर कविताएँ पन्त जी ने लिखी हैं।

यहाँ तक कि सेक्स के बारे में भी पन्तजी का दृष्टिकोण बदल गया है। कहते हैं—

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिय के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से कायर !
क्या क्षुधा तृष्णा औ' स्वप्न जागरण सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक, जीवन द्योतक ?
पशु पक्षी से फिर सीखो प्रणय कला मानव !
है पुण्यतीर्थ नरनारी जन का हृदय-मिलन।

यह आश्चर्य है कि सेक्स के सम्बन्ध में इतने क्रान्तिकारी विचार रखते हुए भी पन्त जी आजकल की नयी लड़कियों के बहुत अधिक कड़े आलोचक हैं। अपनी 'आधुनिक' शीर्षक कविता में उन्होंने कहा है—

लहरी सी तुम चपल, लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली सी तुम फूल-फूल पर मँडराती मधुक्षण हित ?

मार्जोरी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्मसमर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग प्रणय, धन, पद, मद, आत्मप्रदर्शन।
तुम सब कुछ हो—फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जोरी।
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी!

यहाँ तक तो ठीक। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि प्रगतिवादी बनकर पन्तजी की कल्पना ने उड़ानें भरना बन्द कर दिया है। उनकी "गाँव का बुड्ढा", "गाँव की बहू" आदि कविताओं में इतना केवल यथार्थवादी चित्रण है कि उसे कविता की प्राचीन परिभाषा के अनुसार शायद कविता ही न कहा जा सके। परन्तु कविता और कला की पुरानी परिभाषा पन्त जी को अब स्वीकार नहीं, इसलिए काव्य में कल्पना की उड़ान को वह शायद उतनी महत्ता ही नहीं देते। बिलकुल ठीक! परन्तु मुझे शिकायत तो यह है कि पन्त जी ने अपनी इन प्रगतिवादी कविताओं में अभी तक भारतीय ग्रामों की उन्नति के लिये कोई क्रियात्मक या व्यवहारात्मक विचार वा उपाय निर्देश नहीं किये। ग्रामों का यह वास्तविक चित्रण शायद तथाकथित निम्न मध्यवर्ग (Lower middle class) के हृदय में किसानों के लिए सहानुभूति तो अवश्य उत्पन्न कर सके, परन्तु जहाँ तक किसानों को नया मार्ग दिखाने का सवाल है, पन्तजी सिर्फ अपनी सद्भावनाएँ या अपना आशीर्वाद ही दे पाये हैं।

फिर भी, सब मिलकर मैं पन्तजी को प्रगतिवाद का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता हूँ। यदि वह अपनी कविता की भाषा और शैली

को कुछ अधिक आसान बना सकें, तो उनके प्रगतिवादी गीत जनजागृति के काम में सचमुच काफ़ी सहायक सिद्ध होंगे।

पन्तजी ने अपनी प्रगतिवादी कविताओं में किसी भी ऐसे विषय के सम्बन्ध में लिखने का प्रयास नहीं किया, जिसे उन्होंने स्वयं देखा और विचारा नहीं। किसानों के निकट वह रहे हैं, इससे किसानों के बारे में तो उन्होंने बहुत कुछ लिखा है, परन्तु मज़दूरों के जीवन का उन्हें अनुभव नहीं, इससे मजदूरों के बारे में उन्होंने सीधे तौर से कुछ भी नहीं लिखा। किसानों में भी मध्य युक्तप्रान्त के अर्धगुलाम किसानों का ही उन्होंने चित्रण किया है। पंजाब के सम्पन्न किसानों का चित्रण उनकी कविताओं में नहीं है।

भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, अंचल आदि अनेक प्रगतिवादी कवि सचमुच ऊँचे दर्जे के कवि हैं, परन्तु इनकी कविताओं में भावुकता अनुपात से अधिक है। नरेन्द्र और अंचल तो नारी के सम्बन्ध में बहुत रोमांटिक हो उठते हैं। हिन्दी के अन्य अधिकांश कवियों की तरह अधिकांश प्रगतिवादी कवि भी भावुकता और अतिशयोक्ति के शिकार हैं। और सस्ती भावुकता तथा अतिशयोक्ति शायद और ढंग की कविता में खप भी जाय, परन्तु प्रगतिवादी कविता के लिए तो वह एक बहुत बड़ा दोष है।

पन्तजी, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, उदयशंकर भट्ट आदि कवियों की श्रेष्ठ प्रगतिवादी कविताओं के बहुत से उदाहरण यहाँ पेश किये जा सकते हैं, परन्तु इस सीमित स्थान में उन्हें

आपके सम्मुख रखने का लालच मैं न करूँगा। इसी तरह हीन कोटि की, अतिशयोक्ति या सस्ती भावुकता से पूर्ण, तथाकथित प्रगतिवादी कविता के भी बहुत से उदाहरण मैं दे सकता हूँ, परन्तु वह भी मैं नहीं करूँगा।

उपर्युक्त विहंगावलोकन के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रगतिवाद के आन्दोलन से प्रभावित होकर हिन्दी कविता—

१—पहले की अपेक्षा कुछ आसान बन रही है।

२—हिन्दी कविता का उपयोगितावादी मूल्य बढ़ रहा है।

३—कुछ अपवादों को छोड़कर उसमें गहरी अनुभूति कम हो रही है और सस्ती भावुकता बढ़ रही है।

४—अर्थहीन आवेश हिन्दी प्रगतिवादी कविता की सबसे बड़ी कमजोरी है।

५—प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को न सिर्फ बदल दिया है, अपितु उसे बहुत अधिक विस्तृत कर दिया है।

६. हिन्दी कविता के जो परम्परागत बन्धन पहले महायुद्ध के बाद टूटने शुरू हुए थे, प्रगतिवाद के आन्दोलन ने उन्हें पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

प्रगतिवाद के प्रभाव की दृष्टि से कविता के बाद हिन्दी कथा-साहित्य का स्थान है। कथासाहित्य में उपन्यास, नाटक और कहानी इन सबको मैं एक साथ ले रहा हूँ। इस दिशा में पहल करने का श्रेय मुन्शी प्रेमचन्द को है, जो सन् १९३६ में लखनऊ में होने वाले अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ

'Indian Progressive Writers' Association' के सभापति भी बने थे। परन्तु प्रेमचन्दजी को वास्तव में प्रगतिवादी न कह कर आदर्शवादी लेखक कहना चाहिए। साहित्य में उपयोगितावाद को बहुत अधिक महत्त्व देते हुए भी प्रेमचन्द जी उन अर्थों में कदापि प्रगतिवादी नहीं थे, जिन अर्थों में आज प्रगतिवाद शब्द अधिक लोकप्रिय है। वह कम्युनिस्ट न होकर गांधीवादी थे। पूँजीवाद के वह विरुद्ध थे, परन्तु बड़ी मशीनों पर भी उनका विश्वास नहीं था। वह भारतवर्ष की पुरानी ग्रामसंस्थाओं की रक्षा और उन्नति चाहते थे और बड़े कारखानों के स्थान पर छोटे छोटे गृहोद्योगों को सहायता देना चाहते थे। वर्गभेद की भावना को उकसाने से उन्हें घृणा थी। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में उनके विचार बहुत उदार और सहानुभूतिपूर्ण अवश्य थे, परन्तु उन्हें आधुनिक कदापि नहीं कहा जा सकता।

दुर्भाग्य से सन् १९३६ के अन्त में प्रेमचन्द जी का देहान्त हो गया और उसके बाद हिन्दी के प्रगतिवादियों ने प्रेमचन्द जी को प्रगतिवादी मानना ही छोड़ दिया। यह कहना कठिन है कि यह प्रेमचन्दजी का दुर्भाग्य है या प्रगतिवादियों का।

प्रेमचन्द संबन्धी इस ट्रेजेडी के बाद हिन्दी कथा-साहित्य में जो नये प्रगतिशील लेखक प्रसिद्ध हुए, उनमें से कुछ ये हैं—यशपाल, वात्स्यायन (जो 'अज्ञेय' नाम से प्रसिद्ध हैं), इलाचन्द्र जोशी, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे, प्रकाशचन्द्र गुप्त,

भगवतीप्रसाद वाजपेई, आदि। अनेक पुराने लेखक भी इस आन्दोलन से प्रभावित हुए। इन पुराने लेखकों में श्री जैनेन्द्र-कुमार और सेठ गोविन्ददास आदि को प्रगतिवादियों ने बहुत जल्द अपनी जमात से बाहर कर दिया।

हिन्दी कहानी प्रगतिवाद का आन्दोलन प्रारम्भ होने से पहले ही बहुत विकसित हो चुकी थी, इस कारण इस पर प्रगतिवाद का प्रभाव सबसे कम पड़ा। हिन्दी की अच्छी कहानियों में से बहुत सी ऊँचे दर्जे की प्रगतिवादी कहानियाँ हैं, परन्तु उनके लेखकों ने उन्हें इस दृष्टिकोण से कदापि नहीं लिखा।

हिन्दी की एकमात्र प्रगतिवादी कहानी लेखिका श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरिक्सा हैं, परन्तु कला की दृष्टि से, बीसियों सिफारिशों के बावजूद वह हिन्दी कहानी साहित्य पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डाल सकीं।

रंगमंच के अभाव में हिन्दी नाटक अभी तक बहुत पिछड़ी हुई दशा में है। पिछले कुछ दिनों से हिन्दी जनता में एमेच्योर स्टेज का शौक बढ़ रहा है और उसके साथ ही साथ नाटकों का सौन्दर्य भी बढ़ रहा है। परन्तु हिन्दी नाटक साहित्य की इस उन्नति पर प्रगतिवाद की कोई स्पष्ट छाप दिखाई नहीं देती। हाँ कुछ एकांकी नाटक अवश्य ही प्रगतिवादी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। परन्तु यह कहना कठिन है कि इन एकांकी नाटकों ने हिन्दी नाटक साहित्य में अपने लिए किसी किस्म का कोई स्थान बनाया है या नहीं।

हिन्दी उपन्यास पर प्रगतिवाद का प्रभाव स्पष्टतः पड़ा है। यशपाल के 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही', वात्स्यायन के 'शेखर', इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया', भगवती प्रसाद वाजपेई के 'निमन्त्रण', और उदयशंकर भट्ट के 'वह जो मैंने देखा' को प्रगतिवादी उपन्यास कहा जा सकता है। इन उपन्यासों में 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' सचमुच श्रेष्ठ उपन्यास हैं। 'शेखर' में अनेक दोष रहते हुए भी उसकी शैली में बहुत प्रशंसनीय ओज है। बाकी उपन्यासों को भी मैं बुरा नहीं कहता बल्कि उनकी अभिव्यंजन और कथावस्तु में जो नयापन है, उसे मैं श्रेय मानता हूँ। तथापि इन प्रगतिवादी उपन्यासों में अनेक चमकते हुए दोष हैं, जिनका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है।

इन प्रगति वादी उपन्यासों का सब से बड़ा दोष सेक्स कौम्प्लैक्सिटी (Sex Complexity) है, यहाँ तक कि यशपाल के 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' भी इस दोष से बरी नहीं। यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मध्ययुग की कविता में जिस तरह मध्ययुग की नायिकाभेदी हिन्दी कविता का मुख्य आधार सेक्स आकर्षण था, उसी तरह आज के प्रगतिवादी उपन्यासों का आधार सेक्स आकर्षण बन गया है। भेद है केवल ढंग और वस्तु का। 'दादा कामरेड','संन्यासी', 'प्रेत और छाया', 'वह जो मैंने देखा'–इनकी मुख्य 'प्रेरक शक्ति (Motive Power) सेक्स आकर्षण है। बाकी उपन्यासों में भी Sex आकर्षण बहुत प्रमुख है। यह Sex आकर्षण स्वस्थ रूप में होता, तब तो उसमें

कोई हर्ज नहीं था, परन्तु स्पष्टतः वह गहरी मानसिक कौम्प्लेक्सिटी (Mental Complexity)से ओतप्रोत हैं। हीन कोटि के प्रगतिवादी उपन्यास तो इस सम्बन्ध में बहुत ही दोषपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये मैं सर्वदानन्द वर्मा के 'नरमेध' का नाम पेश कर सकता हूं। 'नरमेध' का हीरो एक पढ़ा लिखा नौजवान है, जिसका पिता बुढ़ापे में दूसरा विवाह कर लेता है। इस बात से नाराज होकर वह घर से भाग जाता है और किसी दूसरे शहर में अपने एक दोस्त के घर जाकर ठहरता है। उसके दोस्त को उसी दिन किसी जरूरी काम से बाहर जाना पड़ता है और हीरो अपने दोस्त की पत्नी से केवल घनिष्टता ही नहीं बना लेता है, बल्कि उससे शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लेता है। उसके बाद हीरो की विमाता भी, आराम के लिए उसी शहर में आ जाती है और तब हीरो का अपनी विमाता के साथ रोमान्स चलता है। मुझे यह देख कर बहुत अधिक खीझ पैदा हुई थी जब इस हीन कोटि के और एकदम अस्वाभाविक उपन्यास को अनेक प्रगतिवादियों ने बहुत ही ऊँचे दर्जे का उपन्यास बताया।

ऊपर मैंने जिन प्रगतिवादी उपन्यासों का नाम लिखा है, उनमें भी इसी तरह की सेक्स कौम्प्लेक्सिटी (Sex Complexity) प्रभूत मात्रा में है। वे इतने अस्वाभाविक और बेहूदे तो अवश्य ही नहीं, परन्तु उनके हीरो भी केवल Sex के आकर्षण से सब काम करते हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दी के प्रगतिवादी डाक्टर फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं और फ्रायड के सिद्धान्तों

को वे बहुत दूर तक खींच ले गये हैं। 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' तथा 'वह जो मैंने देखा' में सभी पात्रों का एक मात्र मुख्य मोटिव (Motive) सेक्स (Sex) आकर्षण है। 'दादा कामरेड' में भी सेक्स आकर्षण बहुत जबरदस्त वस्तु बना है । परन्तु वह उतना अधिक अस्वाभाविक नहीं। सेक्स आकर्षण को स्वस्थ रूप में इन सब उपन्यासों में से एक में भी नहीं रक्खा गया। यहाँ तक कि 'शेखर' में भी नहीं। किसी-किसी उपन्यास में Sex आकर्षण के नंगे और वीभत्स चित्र खींच कर अन्त में उन्हें आदर्शवादी बनाने का प्रयत्न किया गया है। यह बात सबसे अधिक हास्यास्पद है। हिंन्दी प्रगतिवादी उपन्यास साहित्य इस हीन कोटि की सेक्स कौम्प्लैक्सिटी से जितनी जल्दी छुटकारा पा जाय, उतना ही अच्छा।

इन उपन्यासों की दूसरी कमज़ोरी है, हीन वर्ग का कुछ अंश तक अस्वाभाविक चित्रण। सच बात तो यह है कि भारतवर्ष का ग्रामीण समाज बहुत ही पिछड़ी हुई दशा में है। जितना झूठ, अविद्या, मैलापन, कमीनगी और डरपोकपन आज हमारे देश के गावों में पाया जाता है, वह शायद संसार का एक रिकार्ड होगा। हिन्दुस्तान के शहरों में भी गन्दगी, फरेब और अपहरण का वातावरण है। सदियों की गुलामी ने यों तो सारे भारतवर्ष के वातावरण को गन्दा बना दिया है, परन्तु शहरों की अपेक्षा गाँवों का पतन बहुत अधिक हुआ है। भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने उपन्यासों में भारतीय ग्रामीण समाज का बहुत ही सुन्दर, मार्मिक और वास्तविक चित्रण किया

है। पन्तजी का चित्रण भी, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, बहुत सुन्दर और वास्तविक है। परन्तु प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यासों में भारतीय ग्रामीण समाज का उजला चित्र खींचने का प्रयत्न किया गया है। यह अस्वाभाविक चित्रण न सिर्फ़ प्रभावरहित है, अपितु कहीं कहीं हास्यास्पद भी है।

प्रगतिवादियों ने हिन्दी साहित्य को एक बिलकुल नई चीज़ दी है।। यह चीज़ है रूसी शैली के रिपोर्ताज। यह 'रिपोर्ताज' हिन्दी में कितना लोकप्रिय हो पाता है, यह तो बाद में मालूम होगा। परन्तु उसे हिन्दी में प्रारम्भ करने का श्रेय प्रगतिवादी हिन्दी लेखकों को ही है।

प्रगतिवादी कविता और कथासाहित्य के बाद प्रगतिवादी आलोचना का स्थान है, परन्तु उसके सम्बन्ध में मुझे यहाँ कुछ भी नहीं कहना, क्योंकि यह तो दृष्टिकोण का सवाल है। और यही एक क्षेत्र है जिसमें प्रगतिवादियों ने हिन्दी साहित्य की सचमुच बहुत बड़ी सेवा की है। इस दृष्टि से हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशचन्द्र गुप्त और अमृतराय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने हिन्दी आलोचना को एक नई दिशा दिखाई है। वह जो कुछ कहते हैं वह स्पष्ट है, क्योंकि उनके पैमाने साफ़ सुथरे हैं। उनसे हम असहमत हो सकते हैं, परन्तु उनकी नीयत को दोष नहीं दे सकते।

हिन्दी साहित्य पर प्रगतिवाद के प्रभाव की इस संक्षिप्त चरचा का उपसंहार करते हुए मैं सिर्फ़ एक ही बात कहना चाहता हूँ।

मेरी राय में साहित्य का क्षेत्र निस्सीम है। उसे किसी भी तरह से बन्धनों से बाँधने का प्रयत्न न कर हमें अपने साहित्यकारों को समुचित शिक्षा देने का प्रयत्न करना चाहिए। साहित्यकार का अध्ययन जितना विशाल होगा और उसका अनुभव जितना विस्तृत होगा और उसकी विचारशैली जितनी सुलझी हुई होगी, उतना ही लिखा साहित्य श्रेष्ठ और कल्याणकारी होगा। कोई चीज आज का फैशन बन गई है, इसी कारण बिना सहानुभूति और अध्ययन के वैसे ही चीज लिखना शुरू कर देना किसी भी दृष्टि से अभीष्ट नहीं है। मैं मानता हूँ कि साहित्यकारों का यह कर्तव्य है कि वे समाज की वास्तविक समस्याओं को विशद रूप में चित्रित करें, ताकि समाज के सदस्य उन्हें समझ सकें और उन्हें हल करने का प्रयत्न करें। साहित्यकार एक द्रष्टा (Seer) होता है, उसका कर्तव्य है कि वह जनता को, अपने पाठकों को भी देखना सिखलाये ताकि वे अच्छे और बुरे में तमीज़ कर सकें। परन्तु जिस विवाद के सम्बन्ध में साहित्यकार स्वयं अंधा है, अथवा जिन नियमों के सम्बन्ध में उसने एक ही पक्ष का समर्थन करने का निश्चय कर लिया है, उन विषयों के सम्बन्ध में वह श्रेष्ठ रचना कर ही किस तरह सकता है? इसी कारण यह आवश्यक है कि साहित्यकार अपने को अधिकतम निस्संग बनाने का प्रयत्न करे। तभी यह सत्य का चित्रण कर सकेगा और सत्य अवश्य ही शिव और सुन्दर होगा।

—:o:—

[१८]

साहित्य कला और प्रचार

(प्रो० भीष्म साहनी, एम० ए०)

"लगे कला में आग, अरे गाता फिरता है ?
आँसू-भरे दिलों को भरमाता फिरता है ?
कला आज है स्वयं बंगके मुखमें रोटी ;
कला आज है स्वयं बंग के चरणों रोटी।"

—'एक भारतीय आत्मा'

"साहित्य और कला के प्रेमियों को एक शिकायत मेरे प्रति है कि मैं कला को गौण और प्रचार को प्रमुख स्थान देता हूँ। अपने प्रति किए गए इस फैसले के विरुद्ध मुझे अपील नहीं करनी। मुझे सन्तोष है कि मेरा अभिप्राय समझा जा रहा है। कला को कला के निर्लिप्त क्षेत्रमें ही सीमित न रख मैं उसे भावों या विचारों का वाहक बनाने की चेष्टा क्यों करता हूँ ? क्योंकि जीवन में मेरी साध केवल जीवन यापन ही नहीं, बल्कि एक दूसरी पूर्णता है। इस प्रकार कला से सम्बन्ध जोड़कर भी मैं कला को केवल कला के लिये नहीं समझ सकता। कला का उद्देश्य है जीवन में पूर्णता की

वृत्ति। बजाय इसके कि यह प्रवृत्ति बहक कर हवा में पैंतरे बदल शान्त हो जाय, क्या यह अधिक अच्छा नहीं कि वह नवीन पूर्णता और नवीन कला के लिये आधार प्रस्तुत करे ?"—यशपाल

इस उद्धरण का आखिरी वाक्य मेरी समझ में नहीं आया; लेकिन यशपालजी का दृष्टिकोण कला के प्रति स्पष्ट है कि कला अपने में ही पूर्ण नहीं, जीवन के विकास में वह एक सहायक और पथ-प्रदर्शक है इसलिये उसकी प्रेरणा व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति की पोषक बने। वह अपना सम्बन्ध जीवन से तोड़कर काल्पनिक रोमांच इत्यादि में न खो जाय, बल्कि धरती पर आए और मनुष्य-मात्र की सेवा करे। भूखे बंगाल में रहने वाला लेखक यदि प्रेमालाप में लगा रहे, तो वह एक भटका हुआ लेखक है। उसका कर्तव्य है कि वह पीड़ित बंगाल की आवाज़ बने। कला केवल मनुष्य के भावुक मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि उस के सम्पूर्ण विकास की प्रेरणा है।

इस दृष्टिकोण से मतभेद नहीं हो सकता। और लेखकों के सामने यह आदर्श रखे बिना ही हम जानते हैं कि किसी पीड़ित देश का साहित्य अपने में असीम वेदना लिये हुए होता है। शरत् और प्रेमचन्द की पुस्तक के हर पन्नेपर सामाजिक अत्याचार से नुचे हुए जीवन की छाप मिलती है। इसके प्रतिकूल बढ़ती सम्पत्ति के दिनों में लिखा हुआ पिछली सदी का अंगरेजी-साहित्य भावुक, सन्तुष्ट वा आशावादी था; और कवि गा रहे थे—'परम-देव परमात्मा स्वर्गासन्न हैं और संसार सन्तुष्ट और सुखी है!'

रूस का आधुनिक साहित्य क्रान्तिकारी, नई उमंगों से उत्तेजित और नए भावों से सजीव हो उठा है। यदि मतभेद है, तो इस दृष्टिकोण के वास्तविक प्रयोग पर। क्या साहित्य का उद्देश्य प्रचार है या जीवन की अभिव्यक्ति। यदि प्रचार है, तो साहित्य किन विशेष विचारों का वाहक बने, जिससे वह जीवन में पूर्णता का प्रेरक हो सके? कला के नाते किसी साहित्यिक रचना का मूल्य किस आधार पर किया जाय?

यशपाल मार्क्सवादी हैं, और मार्क्सवाद जीवन को भौतिक दृष्टिकोण से देखता है। मार्क्स के लिये जीवन की आधारशिला भौतिक है। हमारे अस्तित्व से ही हमारी चेतना है, अस्तित्व से बाहर चेतना नहीं है। जो कुछ मनुष्य सोचता है, उसका आधार उसका मूल उत्पादक भौतिक पदार्थ, भौतिक संसार है। इसलिए मार्क्सवाद जीवन के बदलते रूपकी तह में भौतिक कारणों को देखता है। जिस धुरीपर हमारा सामाजिक जीवन चलता है, वह आर्थिक है। जीवन को समझने के लिये जरूरी है कि हम इन आर्थिक कारणों को समझें। साहित्य जहाँ जीवन को अभिव्यक्त करता है, वहाँ जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति तभी हो सकती है जब कि इन मूल भौतिक कारणों को समझा जाय और इनके ढांचे में जीवन को देखा जाय। काल्पनिक आदर्श, आध्यात्मिकता आदि के दृष्टिकोण से की हुई जीवन की अभिव्यक्ति परोक्ष और यथार्थ नहीं होती। इसलिए मार्क्सवाद को मानने वाले साहित्य में यथार्थता माँगते हैं। कला का उद्देश्य हमारी चेतना को विशाल और

गम्भीर बनाना है, और यह तभी हो सकता है जब कलाकार जीवन के भीतरी नियमों से वाक़िफ हो। जो केवल यथार्थ जीवन को छोड़कर काल्पनिक उड़ान या आध्यात्मिक चिन्तन में उलझ जाय, वह न जीवन को भली प्रकार समझ पाया है और न ही कला और समाज के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभा रहा है। मार्क्सवाद संसार को ईश्वरीय लीला के रूपमें भी नहीं देखता और न ही सुख-दु:ख और समस्याओं को मनुष्य की शक्ति से बाहर की चीज़ मानता है। हमारा जीवन विकासमय है, स्थाई नहीं। इसकी बाग-डोर मनुष्य के अपने हाथों में है। हमारी समस्याओं के कारण भी भौतिक हैं और उपाय भी, इसलिये मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता भी है। मार्क्सवाद के लिये एक कलाकार जीवन का दर्शक-मात्र नहीं और न जीवन ही केवल नाट्यमय है। एक लेखक जीवन के बाहरी रूपको दूर से देखकर उसका गायक न बन जाय, बल्कि उसके भीतरी संघर्ष को समझे, औरों को सचेत करे और क्रियात्मकता की प्रेरणा दे। इसलिये जो साहित्य जीवन से भागने की प्रेरणा दे, वह निन्दनीय है, और यो जीवन के संघर्ष में पड़कर उसे सुधारने की प्रेरणा दे, वह सराहनीय है। यही कारण है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण रखने वाले रहस्यवाद, वैराग्यवाद, आदर्श-वाद आदि को गौण मानते हैं; क्योंकि उनकी प्रेरणा जीवन से दूर रहने की होती है। मार्क्सवाद एक कलाकार से यह उम्मीद रखता है कि वह अपनी चेतना में भौतिक जगत् के व्यवहार को प्रमुख स्थान दे।

किसी रचना की परख के लिए हम अक्सर सत्यं, शिवं, सुन्दरं का मापदण्ड प्रयोग करते हैं। यशपाल भी इस मापदण्ड को शायद मानते हैं, लेकिन उनके लिए सत्य का अर्थ भौतिक सत्य है, आध्यात्मिक या दैविक सत्य नहीं। यदि हम यह कहें कि अमुक वैराग्यवादी कवि की पंक्तियाँ एक ऐसी मानसिक अवस्था को व्यक्त करती हैं, जो हर आदमी ने अक्सर अनुभव की है इसलिए वह यथार्थ और सत्य है—हालाँ कि वह मानसिक अवस्था जीवन को अर्थहीन समझती है—तो मार्क्सवादी उसे यथार्थ तो कहेंगे; लेकिन एक ऐसी भावना, जिसका उत्पादक मनुष्य का मन है, जो यथार्थ जीवन से पैदा नहीं हुई, वह जीवन के किसी सत्य को व्यक्त नहीं करती, केवल एक भावना मात्र है, जो मनुष्य के चिन्तन तक ही सीमित है। शिवं वही है, जो सामाजिक प्रगति और विकास में सहायक हो या रहा हो। वैराग्यपाद आजकल सामाजिक प्रगति में सहायक नहीं, इसलिए शिवं नहीं, कल्याणकारी नहीं। सुन्दर का अर्थ हम अधिकतर यही समझते हैं, जो मनुष्य की सौन्दर्य-भावना को भली मालूम हो। मार्क्सवादी के अनुसार यह सौन्दर्य एक रचना के बाहरी रूप में नहीं, यह सौन्दर्य एक रचना की कथावस्तु और रूप दोनों के सामंजस्य में है। रूप पहनावा है वस्तु का, विषय का, इसलिए एक रचना का सौन्दर्य वस्तु से अलग नहीं। वस्तु के विना केवल मान रूपका कोई महत्व नहीं, और वस्तुसे मुराद यथार्थ जीवन का कोई पहलू है। रहस्यवाद को मार्क्सवादी इसलिए गौण मानते हैं कि उसमें रूप-ही-रूप है, वस्तु नहीं के बराबर है। वस्तु के स्थान पर एक भावना है, जिसका

वास्तविक जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं और जो अपने में क्षणिक है, स्थाई नहीं।

इस दृष्टिकोण के अनुसार साफ़ है कि कला अपने में पूर्ण नहीं। कला का अस्तित्व कला के लिए नहीं, जीवन के लिए है। यदि मैं ठीक समझ पाया हूँ, तो यह दृष्टिकोण कला पर इस तरह लागू होगा—जीवन के व्यापार के मूल कारण भौतिक हैं, इस लिए कला जीवन की अभिव्यक्ति भौतिक आधार पर करे। दूसरे, रचनाओं में सत्य की जांच भौतिक ज्ञान के आधार पर हो। वे भावनाएँ अथवा विचार, जो केवल निजी चिन्तन तक सीमित हैं और जिनका वास्तविक जीवन के साथ सम्बन्ध नहीं, सत्य नहीं। तीसरे, मनुष्य का भाग्य उसके अपने हाथ में है, इसलिए कलाकार सचाई को अभिव्यक्त करता हुआ पढ़ने वाले को सचेत करे और उसे क्रियात्मिकता की प्रेरणा दे। यह प्रेरणा समय की मांग के अनुसार होगी। इसलिए किसी रचना की परख करते हुए हम उसके ऐतिहासिक सम्बन्ध को अवश्य देखेंगे। यदि उसकी प्रेरणा अपने समय की सामाजिक माँग के अनुकूल होगी और सामाजिक विकास में सहायक, तब हम उसे प्रगतिवादी कहेंगे, अन्यथा नहीं। कला के मापदण्ड अपने में स्वतन्त्र नहीं, और केवल कलात्मक गुणों के आधार पर किसी रचना का मूल्यांकन नहीं हो सकता। कला में विचारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है--चाहे वह रचना में निहित हों या स्पष्ट रूप में सामने आएँ। इस पृष्ठ भूमि के आगे यशपाल जी के वाक्य हम समझ

सकते हैं। मैं समझता हूँ कि यह उद्देश्य कला के क्षेत्र को सीमित कर देता है। यदि इस उद्देश्य के अनुसार किसी साहित्यिक रचना का मूल्य आँका जाय, तो वह इकतर्फ़ा होगा।

सब से पहले यह कि कला भावना-प्रधान है, विचार-प्रधान नहीं। यह ठीक है कि कला विचारों से अलग नहीं हो सकती। हरएक कलाकार जीवन की अभिव्यक्ति अपने उस दृष्टिकोण से करेगा, जिसमें उसके जीवन-सम्बन्धी सब विचार निहित होंगे, और उसकी अभिव्यक्ति उसके विचारों का प्रबल संकेत करेगी। लेकिन हम कला को बौद्धिक कसौटी पर नहीं परखते। कला का क्षेत्र मुख्यतया भावना का क्षेत्र है। किसी रचना का मूल्यांकन हम उसके विचारों के आधार पर नहीं करते; परन्तु उसके कलात्मक गुणों, भावना की गहराई और सत्यता के आधार पर करते हैं। कला हमारे ज्ञान की उपज नहीं, मनुष्य की भावनाओं और वृत्तियों की उपज है। ज्ञान उसका पोषक है, सहायक है और बाहरी जगत् के प्रति हमारी भावुक प्रतिक्रिया अधिक प्रौढ़ बनाता है; लेकिन कला के भीतर गुणों को बदल नहीं देता। विज्ञान ने प्रकृति का बहुत-सा चमत्कार छीन लिया है। सूर्य और चाँद देवता नहीं रहे। भूकम्प, महामारी और तूफ़ान किसी आध्यात्मिक नियमों के अनुसार नहीं घटते और न वे उपासना, यज्ञ और बलि द्वारा टाले ही जा सकते हैं। यह ज्ञान कवि का सहायक है, उसकी कविता को अधिक प्रौढ़ बनाने वाला है; लेकिन इसी के नाते कवि गायक के बजाय विचार-वाहक नहीं हो जाता।

किसी रचना के मूल्यांकन में बौद्धिक विचार और सामाजिक उपयोगिता को मुख्य स्थान देना, उस रचना के प्रति अन्याय होगा। अगर किसी दिन सूर्यास्त के समय किसी मन्दिर का कलश जगमगा उठे तो आज कल धर्म की सामाजिक उपयोगिता न होते हुए भी वह बदसूरत नहीं हो जाता। धर्म विरोधी शायद अपना मुँह मोड़ ले; लेकिन एक विदेशी शायद मन्त्र-मुग्ध की भांति खड़ा उसे देखता रहे। इसी तरह उमर खय्याम की रुबाइयाँ इसलिए असुन्दर नहीं हो जातीं कि वह भाग्यवादी था।

साहित्य का कला के दूसरे अंगों से एक महत्त्वपूर्ण फ़र्क है। जहाँ साहित्य की रचना शब्दों द्वारा होती है, वहाँ संगीत की स्वरों द्वारा और चित्रकला की रंगों द्वारा। यह शब्दावली वही है, जिसके द्वारा हम खोज हुए ज्ञान का वर्णन करते हैं। जो भाषा विज्ञान के किसी प्रयोग का वर्णन करती है, वही भाषा एक कविता भी लिखती है। लेकिन अभिव्यक्ति का साधन एक होते हुए भी उनके क्षेत्र अलग अलग हैं। कविता इसी शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी कला का अंग है और कला के नियमों की पालक है। कई बार साहित्यिक जीवन-दर्शन कराते हुए ज्ञान के बौद्धिक क्षेत्र में भी चुपचाप आ जाता है। तब वह अपनी रचना में एक ऐसा अंश ले आता है, जिसकी प्रेरणा बौद्धिक है और जिसकी परख ज्ञान पर है। प्रेमचन्द जितनी देर देहाती जीवन का चित्रण करते हैं, अद्वितीय हैं; लेकिन जिस वक्त वे सामाजिक सुधार पर उपदेश देने लगते हैं, वह ज़मीन कच्ची होने लगती

है। कारण, समाज में मार्ग दिखाने वाला एक साहित्यिक ही नहीं होता। समाज में बैठे हुए बहुत से विद्वान्, समाज-विचारक, अनुभवी मनुष्य और भी होते हैं। जहाँ विचारों का क्षेत्र साहित्यिक के क्षेत्र से बाहर का नहीं, जहां साहित्यिक आसानी से किसी बौद्धिक विषय को अपनी रचना का विषय बना सकता है; वहाँ उसकी रचना की माप-तोल उन बौद्धिक विचारों के आधार पर नहीं, बल्कि कलात्मक गुणों के आधार पर होगी। अप्टन सिन्क्लेयर के उपन्यास इसलिए श्रेष्ठ नहीं कि वे समाजवादी विचारों का स्पष्टीकरण करते हैं, बल्कि इसलिए कि वे कला की कसौटी पर पूरे उतरते हैं।

साथ ही ज्ञान केवल कला का प्रेरक नहीं रहा। हमारे हजारों ग्रामीण कवि निरक्षर और सामाजिक समस्याओं से अपरिचित होते हुए भी अद्वितीय कविता कह जाते हैं। एंजल्स ने एक जगह कहा है कि जब भी जमाना करवट लेता है, तो उसकी तह में आर्थिक कारण होते है; लेकिन भीतरी कारण आर्थिक होते हुए भी बाहरी कारण कई और हो सकते हैं। ये बाहरी कारण भी साहित्य के प्रेरक हुए हैं। इतिहास में कई धार्मिक विचार-प्रवाह बड़े प्रभावशाली रहे, जिनके प्रभाव के नीचे अच्छे साहित्य की रचना हुई। बौद्धमत की प्रेरणा भौतिक भी थी और आध्यात्मिक भी। वह सांसारिक जीवन में सुख का साधन सांसारिक जीवन के त्याग में देखता था। इसी प्रेरणा के अनुसार लाखों भिक्षु सांसारिक जीवन से अलग हो गए। यह दृष्टिकोण

उस दृष्टिकोण के बिलकुल प्रतिकूल था, जो सुख का साधन संघर्ष और सामाजिक शक्तियों के सामंजस्य में देखता है। हम कह सकते हैं कि कई शताब्दियों तक बौद्ध मत का यहां प्रभाव रहा और कई विचारवान् सामाजिक दुःख के भीतरी कारणों से अपरिचित रहे। तो क्या उस समय का सारा साहित्य पथभ्रष्ट और कला के नाते गौण है ?

यह ठीक है कि मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन उसकी सामाजिक शक्तियाँ निश्चित करती हैं, और उसे पूर्णतया समझने के लिए जरूरी है कि उसे सामाजिक पृष्ठभूमि के आगे देखा जाय। हरएक मनुष्य को देखने के दो पहलू होते हैं—एक तो वह है, जिसमें वह किसी जन-समूह का अंग-मात्र है और उसका जीवन अपने वर्ग के जीवन के साथ आर्थिक शक्तियों के साथ बँधा हुआ है; और दूसरा व्यक्तिगत है, जिसमें वह सामाजिक शक्तियों पर निर्भर होते हुए भी अपने में स्वतन्त्र है, अपने दिमाग़ और इच्छाओं की प्रेरणा के अनुसार जीवन में अपना रास्ता टटोलता हुआ चलता है। यही दो पहलू हम साहित्य में भी देखते हैं। होरी जहां एक शोषित किसान है—लाखों अपने-जैसा किसान-सा और अपने वर्ग के लोगों की तरह गरीब और पराधीन—वहां होरी का अपना व्यक्तित्व भी है, जिसे उसके मन की प्रौढ़ सादगी, एक गाय लेने की रीझ और विशेष मानसिक गठन इत्यादि बनाते हैं। मनुष्य के जीवन को सामाजिक शक्तियों के ढांचे से अलग भी देखा जा सकता। आर्थिक शक्तियों पर

निर्भर होते हुए भी मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करने वाला है, अपने में स्वतन्त्र है। साहित्यिक इस व्यक्तिगत जीवन के पृथक्-पृथक् पहलू हमारे सामने लाता है। जहां तक यह वर्ग का अंग है, इसका जीवन बहुत कुछ जानी और समझी हुई आर्थिक और सामाजिक शक्तियाँ निश्चित करती हैं; लेकिन इसका व्यक्तिगत जीवन किसी विशेष धुरे पर चलता हुआ हमारे सामने स्पष्ट नहीं होता। वहाँ इसकी वृत्तियाँ, इसका दिमाग, आकस्मिक घटनाएँ,मौत आदि बहुत महत्व रखते हैं और जीवन अनिश्चित ढंग पर चलता है। इसकी वृत्तियों और ज्ञान में सामंजस्य नहीं जिससे वह दुःखी होता है। राजा बनने की लालसा में उत्तेजित मैक्बेथ खूनमें से तैरता हुआ अपना नाश कर लेता है। प्रेमोन्मत्त देवदास अपने पर कोई काबू न रखते हुए जीवन की गति से मानो पिछड़ जाता है। साहित्य का विषय मनुष्य समाज और सकल ब्रह्माण्ड है। जहां लेखक मनुष्य को सामाजिक ढांचे में देखे, वहाँ उसके लिए सामाजिक शक्तियों का समझना अनिवार्य है; लेकिन जहाँ वह उसके व्यक्तिगत जीवन को अपना विषय बनाए, वहाँ केवल सामाजिक नियमों के आधार पर उसका स्पष्टीकरण साहित्य के क्षेत्र को संकुचित करने वाला और अपूर्ण होगा। इसलिए कलाकार अपनी कथावस्तु चुनने में स्वतंत्र है, और इसीलिए साहित्य में हास्य, गीत, दुखान्त नाटक, रोमांचकारी कविता और काल्पनिक कथानक का स्थान है— चाहे उनका सामाजिक सम्बन्ध और उपयोगिता कुछ भी न

हो। वे कला के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं और न कला के नाते निरर्थक हैं।

साथ ही कला मूलतः चिन्तात्मक है। साहित्यिक का कर्त्तव्य है कि वह अपनी रचनाओं द्वारा उन सामाजिक शक्तियों को ताक़त दे, जो समाज को आगे ले जाने वाली हों। परन्तु कला का मौलिक गुण (प्रेरणा नहीं !) चिन्तात्मक है, क्रियात्मक नहीं। जीवन के एक टुकड़े को लेकर कलाकार उसे अपनी कल्पना द्वारा एक नया रूप देता है, जो अपने में पूर्ण होता है। वह जीवन से तोड़ा हुआ एक अपूर्ण टुकड़ा नहीं रहता। यथार्थ जीवन को कलाकार अपनी जिस विशेष दृष्टि से देखे और जिस चिंतन तथा कल्पना द्वारा उसका पुनर्निर्माण करे, यह एक मूलतः चिन्तात्मक प्रक्रिया है। यही कारण है कि जहां वैज्ञानिक एक भौतिक सत्य को एक ही दृष्टिकोण से देख कर एक-जैसी भाषा में उसे व्यक्त करेंगे, वहाँ उसे पृथक् कलाकार अलग-अलग रूप में देखेंगे और व्यक्त करेंगे। भेद चिन्तन में है, भौतिक सत्य में नहीं। यही कारण है कि कोई भी कलात्मक रचना शुरू से आख़िर तक यथार्थता की नक़ल नहीं होती। कला चिन्तात्मक है, यह उसका एक गुण है। क्रियात्मक जीवन में कला क्रियात्मिकता की प्रेरणा करे, यह आप कलाकार का सामाजिक उद्देश्य मान कर कह सकते हैं; परन्तु कला का मौलिक उद्देश्य मानकर नहीं कह सकते।

तो क्या कला का मनुष्य की उन्नति या सामाजिक प्रगति में

कोई स्थान नहीं ? स्थान है, और वह भी बहुत ऊँचा। कला की प्रेरणा केवल हमारी सौन्दर्य-भावना की ओर ही नहीं होती, बल्कि हमारी नैतिक भावना की ओर भी होती है। जो रचना हमारी नैतिक भावना को सन्तुष्ट न करे, वह हमारी नज़रों में गौण हो जाती है। कोई ऐसी साहित्यिक रचना महत्व नहीं रखती जो अन्याय को ऊँचा स्थान दे। साहित्यिक रचनाओं में भी नैतिक शक्तियों का अनैतिक शक्तियों के विरुद्ध एक संघर्ष दिखाया जाता है। कला हमारी नैतिक भावना को प्रौढ़ता देती है। समाज के आर्थिक ढांचे को न समझने वाला कलाकार भी अत्याचार को देखकर सिहर उठता है। जिस नैतिक भावना को कला प्रभावित करती है, वह सामाजिक रूढ़ियों से ऊपर की चीज़ है। उसका सम्बन्ध उस मूल भावना के साथ है, जिसपर विश्व का सारा व्यापार चलता है। इसलिए मनुष्य की उन्नति और सामाजिक उन्नति के साथ कला का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है। कला उस नैतिक भावना की पोषाक है, जिसे सन्तुष्ट करने के लिए आर्थिक योजनाएँ बनाई जाती हैं और राजनीतिक संघर्ष उठते हैं, ताकि संसार में न्याय की स्थापना हो। यह नैतिकता उसके सौन्दर्य और सत्यता की तरह साहित्य का एक मौलिक गुण है।

मैं यदि ठीक समझ पाया हूँ, तो मार्क्सवाद की प्रेरणा साहित्य को अधिक यथार्थ बनाने की है, और इसमें वह पथ-प्रदर्शक है। लेकिन मार्क्सवाद साहित्य को परखने की कोई नई कसौटी नहीं देता और न साहित्य के आन्तरिक गुण ही बदल देता है। लेनिन

ने एक जगह लिखा—'टाल्स्टाय बहुत महान् लेखक है। टाल्स्टाय के जीवन के प्रति जो निष्कर्ष हैं, उससे मैं सहमत नहीं। लेकिन रूस के जीवन का और मनुष्य के जीवन का गम्भीर चित्रण टाल्स्टाय ने किया है, वह उसे संसार के महान् लेखकों में स्थान देता है।' टाल्स्टाय का सामाजिक शक्तियों को ठीक तरह न समझ सकना, उसे कलाकार के नाते गौण नहीं बना देता। उसकी महानता जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति में है, जीवन के चित्रण में है। साहित्य में विचार को मुख्य और कला को गौण मान लेना और इसी के अनुसार कला की परखने की एक कसौटी बना लेना—यह कला के क्षेत्र को सीमित करना और मार्क्सवाद को ग़लत समझना है। इसलिये जहाँ यशपाल जी का यह कहना है कि 'कला का उद्देश्य है जीवन में पूर्णता की प्रवृत्ति', हम उनसे सहमत हैं; लेकिन जहाँ वे यह कहते हैं कि 'मैं कला को गौण और विचारों को प्रमुख स्थान देता हूँ', वहाँ हम उनसे सहमत नहीं। कला विचार-प्रधान नहीं, भावना-प्रधान है, और कला की परख उन विचारों के आधार पर नहीं होती, जिनका उनमें प्रचार है, बल्कि कला के अपने नियमों के आधार पर होती है। कला विचारवाहक नहीं और न ही उसका एकमात्र उद्देश्य प्रचार है। कला का उद्देश्य जीवन-दर्शन है।

———

[१९]

प्रेमचन्द की कला

(प्रो० रामविलास शर्मा)

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रेमचन्द का ध्येय समाज सुधार था; कला की बातें गौण होकर आती हैं, उनका लक्ष्य पहले उक्त ध्येय की पुष्टि करना ही है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कला के बारे में उन्होंने सोचा न था, विशेष कर उस कला के बारे में जिसका कहानी और उपन्यास के निर्माण से सम्बन्ध है। युवावस्था में प्रेमचन्द ने बहुत से उपन्यास पढ़े थे—उनकी संख्या अनगिनत न रही हो परंतु उनमें भले बुरे, कलात्मक और कला-हीन का हिसाब लगाया गया था। तिलस्मी होशरूबा, चंद्रकांता संतति, बंकिमचन्द्र और रेनॉल्ड के अनुवाद और कुछ न मिला तो नवलकिशोर प्रेस से निकले पुराणों के उर्दू अनुवाद सभी कुछ उन्होंने पढ़ा था। 'मेरी पहिली रचना' और 'जीवनसार' (कफ़न) में उन्होंने अपने इस उपन्यास-प्रेम और अपनी पढ़ाई का हाल लिखा है। अपनी रचनाओं में प्रेमचन्द का ध्येय समाज-सुधार था; एक समाज-सुधारक चन्द्रकांता संतति और रेनाल्ड के अनुवाद पढ़े,

कुछ अचरज सा लगता है। परंतु इससे सिद्ध होता है कि प्रेमचंद को कथा-मात्र से प्रेम था; जो पढ़ते थे, उसमें उनके लिए पहला आकर्षण कहानी थी। इसलिये सुधार का लक्ष्य होते हुए भी उनकी खुद की रचनाओं में कहानी-तत्व गौण होकर नहीं आया। पाठक उन्हें कथा के आनन्द के लिये पढ़ सकते हैं; सुधार का लक्ष्य छिपा हुआ है। भले-बुरे, सभी श्रेणियों के उपन्यास पढ़ने से प्रेमचन्द की चिंतनशक्ति उर्वर हुई; प्रत्येक महान् प्रतिभा को अपने लिए एक बना बनाया ढाँचा न चाहिये, जिसका वह अनुसरण करे,—उसे केवल अपने विकास के लिये केवल संकेत, थोड़ा सहारा चाहिये जिससे वह अपनी मौलिकता को खोज सके। प्रेमचंद की विचित्र और बहु प्रकार की पठन सामग्री ने उनकी रचना शक्ति के लिये खाद का सा काम किया और वह सेवासदन जैसा आधुनिक उपन्यास लिख सके। केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचन्द 'सेवासदन' को फिर न पा सके; अपने अन्य बड़े उपन्यासों में उन्होंने निर्माण का ढंग ही बदल दिया था।

'सेवासदन' में पाठक का ध्यान सुमन पर केन्द्रित रहता है; विषम सामाजिक परिस्थितियों में उसका विवाह होता है, पति से विछोह और बाद में वेश्या-जीवन आरंभ होता है। अन्त में वह सेवासदन में स्वयं आश्रय खोजती है, दूसरों के आश्रय का प्रबंध करती है। आरंभ से अंत तक सुमन पर से पाठक की दृष्टि नहीं हटने पाती और वही कहानी के ऊहापोह का कारण बनती है। परन्तु 'सेवासदन' की आधुनिकता इस निर्माण में ही नहीं है; उसकी

महत्ता घटनाओं के तारतम्य, विशेषकर परिस्थिति, घटना और चरित्र के सामंजस्य में है। 'सेवासदन' में घटनाओं का संबंध चरित्र तक, कथा के कुछ पात्रों तक ही नहीं रहता; वह फैलकर परिस्थिति, समाज की विशिष्ट अवस्थाओं तक पहुँच जाता है। प्रेमचन्द के पहले के उपन्यासकार इस सामाजिकता को न पहचान पाये थे; उनके उपन्यास कुछ पात्रों की कथायें हैं—प्रेमचंद के उपन्यास समाज का प्रतिबिंब हैं, पात्र केवल दशाओं के चित्रण में सहायता करते हैं। और अंत तक पहुँचते-पहुँचते 'सेवासदन' की कथा का केंद्र सुमन न होकर वेश्याजीवन हो जाता है। सुमन की समस्या एक बृहत् समस्या में घुलमिल जाती है। फिर भी सुमन का चित्रण अत्यंत सजीव है; उसमें वैयक्तिक विशेषताएँ हैं और वह केवल एक सामाजिक परिस्थिति या किसी वर्ग का प्रतीकमात्र नहीं है। वर्ग और व्यक्ति दोनों को उनका उचित स्थान दिया गया है। आरंभ में दरोगा कृष्णचंद की ऐसी परिस्थिति दिखाई गई है कि उन्हें कन्या के विवाह के लिये घूंस लेना और फलतः जेल जाना पड़ता है। कोई दूसरा होता तो सब कुछ निबाह ले जाता परंतु कृष्णचंद की सिधाई स्थिति के सँभालने में बाधक होती है। वहीं से सुमन की विपत्ति-कथा का आरंभ होता है। बाद में शहर में, उसका पति, पड़ोसी भोली रंडी, पद्मसिंह आदि उसके घर छोड़ने और रंडी बनने में सहायक होते हैं। सुमन की व्यक्तिगत चेष्टाएँ अनुकूल परिस्थितियों से प्रेरित होती हैं और उनका एक निश्चित दशा में अंत होता है। इसके बाद वेश्याओं को लेकर नगर में जो आंदोलन

चलता है, उससे समाज का व्यभिचार, उसकी पतित अवस्था हमारे सामने आ जाती है। प्रेमचन्द ने नगर के प्रमुख व्यक्तियों के सुन्दर रेखाचित्र दिये हैं और वह व्यंग्यपूर्ण चित्रण देखते ही बनता है। सुमन के जीवन की दूर तक प्रतिक्रिया होती है और उसकी बहन को अविवाहित ही विधवा बनना पड़ता है। 'सेवा-सदन' में नगर के, बाज़ार के, बागों और मन्दिरों के, सेठ साहूकार, वकील, सुधारकों के, और नदी के किनारे के मल्लाहों के चित्रण से, हम सुमन को उसके चारों ओर के वातावरण में; सामाजिक परिस्थितियों के बीच देख सकते हैं। प्रेमचन्द के पहले हम कथाएँ पढ़ते थे; यहाँ नित्यप्रति की देखी-सुनी बातें पाते हैं, कल्पना से यथार्थ में आते हैं।

'सेवासदन' में कथा-सूत्र एक ही है; 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' आदि की भाँति कई कथाएँ एक साथ नहीं चलतीं। उन बड़े उपन्यासों की श्रेणी से अलग प्रेमचंद का दूसरा सुगठित उपन्यास 'निर्मला' है। अपने घर में अविवाहित दशा से लेकर मृत्यु पर्यंत निर्मला ही कथा का केन्द्र है। फिर भी घटनाओं में अन्तर नहीं पड़ता, अविलम्ब एक दूसरे का अनुसरण करतीं वे हमारे सामने आती हैं। निर्मला की दोहाजू से शादी होती है और फिर बाबू तोताराम की गृहस्थी की विचित्र समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। मंसाराम की मृत्यु के बाद निर्मला का जीवन लक्ष्यहीन हो जाता है और रोग और दरिद्रता में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ भी निर्मला के सहारे, जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रेमचन्द वयस्क दोहाजू के

विवाह से उत्पन्न घरेलू समस्याओं का ताना-बाना बुनते हैं। निर्मला के जीवन की घटनाओं में मग्न, कथा का आनन्द लेता हुआ पाठक, समाज की इन गुत्थियों को भी सुलझाता चलता है। इसी श्रेणी में 'प्रतिज्ञा' उपन्यास भी आता है। अमृतराय और पूर्णा कथा का केन्द्र हैं; अमृत केवल विधवा से शादी करने की प्रतिज्ञा करते हैं, और पूर्णा विधवा हो जाती है परन्तु अनेक कारणों से फिर भी उनकी शादी नहीं होती। यहाँ भी कथा के साथ विधवा-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। 'ग़बन' इस कोटि के उपन्यासों में सबसे लम्बा है। यहाँ मूल समस्या गहनों को लेकर खड़ी हुई है। जालपा गहने चाहती है; उसके ससुर और पति मिथ्या सामाजिक मर्यादा के फेर में एक कमज़ोरी के बाद दूसरी कमज़ोरी की तरफ़ बढ़ते जाते हैं और जब जालपा सजग हो जाती है तब भी उसका पति रमानाथ नहीं सँभल पाता क्योंकि वह पतन की राह में बहुत आगे बढ़ चुका है। केवल जालपा का हठ और उसका त्याग, साथ ही ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ जो रमानाथ के सोते आत्मसम्मान को जगा देती हैं, उसे फिर मनुष्य की तरह जीवन बिताने योग्य बनाती हैं। आज का समाज किस तरह हमारी कमज़ोरियाँ उभारता है और हमें शीघ्र से शीघ्र पतित होने में सहायता देता है, इसका सूक्ष्म चित्रण यहाँ मिलता है। साथ ही रमा और जालपा की कहानी से भी हमारा ध्यान नहीं हटने पाता। उसी कथा को उभारने के लिए रतन और उसके पति वकील की कथा भी आ जाती है, परन्तु वह बहुत छोटे परिमाण में है।

अन्य उपन्यासों में दो या अधिक कथाएँ साथ-साथ चलती हैं और मूल कथा किसे कहें, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है। 'प्रेमाश्रम' में एक ओर ज्ञानशंकर, प्रेमशंकर, गायत्री, कमलानन्द आदि ज़मींदार वर्ग के पात्र हैं, उनकी समस्याएँ हैं, उनकी कथा है; दूसरी ओर गौसखाँ के किसान, मनोहर, बलराज, कादिर आदि हैं, उनकी समस्याएँ हैं, उनकी भी कहानी है। परंतु ये कहानियाँ जितनी अलग ऊपर से जान पड़ती हैं, उतनी वास्तव में नहीं हैं। दोनों का एक दूसरे से निकट का सम्बन्ध है और वे एक दूसरे की आश्रित हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस कोटि के मुख्य उपन्यास : 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' गाँवों से संबन्धित हैं और इसलिए प्रेमचन्द को वहाँ के दो वर्गों का चित्रण करना आवश्यक था। 'सेवासदन', 'ग़बन' और 'निर्मला' की समस्याएँ एक ही वर्ग या परिवार की हैं अथवा वहाँ वर्ग संघर्ष इतना स्पष्ट नहीं हो पाया था। गांवों में ज़मींदार एक तरफ़, किसान एक तरफ़—दोनों के खेमें जुदा-जुदा हैं। इसलिए किसानों का शोषण चित्रित करने के लिए उन्होंने ज़मींदारों का चित्रण करना ही था। और प्रेमचन्द दोनों वर्गों को निकट से जानते थे, इसलिए बड़े परिमाण पर उन्होंने उनके चित्र बनाये हैं; गायत्री और ज्ञानशंकर की प्रेमलीलाओं से किसानों का निकट का सम्बन्ध है। जब गायत्री का कृष्ण-प्रेम उमड़ता है, वह सनातन धर्म की सभाएँ करती है, धर्मशालाएँ बनवाती है, तो इसका बोझ किसानों के कंधों पर ही पड़ता है। ज्ञानशंकर की व्यक्तिगत धूर्तता और उनका पाखंड उन्हें एक आदर्श हृदयहीन ज़मींदार

के रूप में हमारे सामने रखता है। और अंत में मायाशंकर और किसान दोनों वर्गों का सहकारिता की खेती में, एक वर्गहीन समाज में अंत होता है। 'प्रेमाश्रम' में खूब विभिन्नता है; उसका ध्येय किसानों को सरकारी और जमींदारी शासन के नीचे पिसता हुआ दिखाना है। इसलिए एक गठित कथा को लेकर चलना घातक होता। अनेक आधुनिक उपन्यासकार कथा को छोड़ कर केवल सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करते हैं। अपनी विशृङ्खलता से ही वे पाठक पर एक प्रभाव छोड़ना चाहते हैं। प्रेमचन्द में वैसी विशृङ्खलता नहीं है। रूसी क्रांति के पूर्व के उपन्यासकार टाल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि की भांति कथा-सूत्रों को लेते हुए वे सामाजिक परिस्थितियों का चित्र देते हैं। निर्माणकला की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' उतना ही महत्वपूर्ण है जितना 'सेवासदन'। 'सेवासदन' का क्षेत्र संकुचित है, 'प्रेमाश्रम' का बृहत्। पूरा उपन्यास पढ़ने पर गावों का समाज, उसकी समस्याएँ, शोषण-यत्र की विचित्र गति-विधि, सभी से हमारा परिचय हो जाता है। प्रत्येक महान् कृति की भांति हम उसके लिए कह सकते हैं, यह जीवन का ही चित्र है।

'रंगभूमि' की कथा के दो केन्द्र हैं, एक सूरदास, दूसरे विनय-सिंह। सूरदास के पास थोड़ी सी जमीन है; जॉन सेवक उस पर अपना तमाखू का कारख़ाना बनाना चाहते हैं। यही सारे झगड़े की जड़ है। सूरदास के चारों ओर भैरों, जगधर, नायकराम आदि देहात के अन्य पात्र हैं; भैरो की स्त्री सुभागी को लेकर एक टण्टा खड़ा हो जाता है। कारख़ाना बनने से कुछ गाँव वालों को

अपना लाभ दिखाई देता है; वह डटकर, एक होकर सेवक साहब का विरोध नहीं कर पाते। सूरदास और उसके गुट को अपना केन्द्र मान प्रेमचन्द ने उस गांव की दशा चित्रित की है जो पुरानी मान-मर्यादा के विचारों के होते हुए भी नये उद्योग-धन्धों के आक्रमण से अपने अस्तित्व को नहीं बचा सकता। सेवक और सूरदास के बीच ताहिरअली, जो सेवक के क्लर्क हैं, अपनी छोटी सी कथा लिये आते हैं। भले सीधे आदमी, परिस्थिति की मार से, जान बूझ कर अधर्म का काम करते हैं, और उन्हें सजा भी मिलती है; अधर्म की नहीं, अपनी सिधाई की। सूरदास के विरोधी दल में सेवक के साथ साथ कुँवर भरतसिंह, राजा महेन्द्रप्रतापसिंह, आदि मिले हुए हैं। भरतसिंह ही सब से पहले कारखाने के हिस्से खरीदने को तैयार होते हैं। महेन्द्रसिंह जमीन दिलाने को कहते हैं। हाकिम-क्लर्क भी सेवक के लालच दिखाने पर उनकी सहायता करते हैं। जमीन के मालिक जमींदार आदि भूमिपति से आधुनिक पूंजीपति बन सकते हैं। इन भूमिपतियों, नये व्यापारियों और उनके सहायकों के साथ एक गुट आदर्शवादियों का है जिसमें कुछ द्वंद से अलग हो जाना चाहते हैं, कुछ उसे सुलझाना चाहते हैं, और परिस्थिति की थपेड़ों से कुछ प्रतिक्रियावादी होकर जन-पक्ष के दमन में भी सहायक हो जाते हैं। विनयसिंह को अपनी माता से पुराने ढंग की आत्मत्याग और देश-सेवा की शिक्षा मिली है। वह एक आदर्शवाद लिए जीवन में एक द्वन्द उत्पन्न कर देती है और वह कभी इस ओर, कभी उस ओर, अर्द्ध-निष्क्रिय से झोंके खाया करते हैं। प्रभुसेवक इस

द्वन्द से दूर हो अपने आपको कविता में भूल जाना चाहते हैं। उनके पिता बार-बार उन्हें व्यापार की भँवर में डालना चाहते हैं, परन्तु कमल-पत्र की भांति उन पर पानी चढ़ता ही नहीं है। सोफी विनय से प्रेम करती है; उस का कार्य-क्रम विनय से ही प्रभावित होकर बनता है। राजपूताने की रियासतों में जब विनय से अलग वह षड़यन्त्रकारियों से मिल जाती है, तो विनय के कार्यों की प्रतिक्रिया के ही कारण। कुँवर भरतसिंह की पत्नी रानी जाह्नवी के देश-प्रेम का स्रोत पुत्र है; मेरा पुत्र महान् हो, यह उनकी कामना है, और उसके महान् बनने के लिए देशसेवा एक साधन है। इन आदर्शवादियों में कोई भी समस्या को ठीक तरह नहीं सुलझा पाता। सेवक और सूर का संघर्ष चला करता है और अंत में सूर के साथ सारा गाँव, जैसा कि हम देख चुके हैं, तहस-नहस हो जाता है। इस तरह कथा के अनेक सूत्र एकत्र कर प्रेमचंद एक बृहत् सामाजिक परिवर्तन का चित्र दे सके हैं; मूल कथा विनय और सोफी की, या सूर और सुभागी की नहीं रहती—उपन्यास का कथानक एक सामाजिक परिवर्तन हो जाता है और प्रेमचंद की कला इसे चित्रित करने में पूरी तरह सफल हुई है।

'कर्मभूमि' का ढाँचा अन्य उपन्यासों से भिन्न है। यहाँ पर दो कथाएँ हैं, एक चमारों के गांव की, एक नगर की; परन्तु दोनों ही अमरकांत के व्यक्तित्व से जुड़ी हुई हैं, साथ ही दोनों का सम्बन्ध अछूतों से है। एक तरफ अमरकांत के गाँव में लगान बन्दी का आंदोलन चलता है, दमन होता है; दूसरी तरफ नगर में मंदिर-

प्रवेश के लिये सत्याग्रह होता है, गोली चलती है; अछूतों के लिए नये मकान बनें, इसके लिये म्यूनिसिपैलिटी के विरुद्ध आंदोलन चलता है। अछूत-समस्या का यहाँ भी बृहत् चित्र खींचा गया है; उसके आर्थिक, सामाजिक पहलू हमारे सामने आते हैं। अमरकांत की कहानी अछूत-आंदोलन की कहानी बन जाती है। कथा के दो क्षेत्र होने से प्रभाव कम नहीं होता वरन् वे एक दूसरे की सहायता करते हैं और एक निश्चित कलात्मक प्रभाव के अंग बन जाते हैं। निर्माण की दृष्टि से 'कायाकल्प' प्रेचन्द का सबसे निर्बल उपन्यास है। चक्रधर की कहानी और रानी देवप्रिया की पारलौकिक गाथा काफी दूर-दूर चलती हैं। यद्यपि अंत में वे एक हो जाती हैं परन्तु उन्हें एक करने में जितना विलम्ब लगता है, उससे पाठक धीरज खो बैठता है। कथाओं के असंबद्ध होने पर भी लेखक का ध्येय राजा-जमींदारों का चित्रण करना स्पष्ट रहता है। ये पात्र इतने मौलिक और मजेदार हैं कि उपन्यास की रोचकता नष्ट नहीं होती। 'गोदान' का ढांचा बहुत कुछ प्रेमाश्रम जैसा है—एक गुट होरी के चारों ओर किसानों का है, दूसरा गुट रायसाहब के चारों ओर उच्च वर्ग के लोगों का है। इनमें मेहता और मालती भी हैं जो गाँव वालों से सहानुभूति रखते हैं परन्तु लड़ाई में कूद कर डटकर उनका पक्ष लड़ नहीं सकते। इन्हीं के साथ पत्रकार, मिलों के मालिक, शहर के अमीर, आवारा आदि भी हैं जो होरी की गरीबी से अलग उच्च वर्ग की ऊपरी चमक-दमक का चित्र पेश करते हैं। लेकिन यह वर्ग मूल

चित्र के पृष्ठ-भाग में ही रहता है; चित्र में का अधिक भाग होरी और उसके साथियों को ही दिया गया है। इसका कारण यह है कि होरी की मुख्य लड़ाई उतनी इस उच्च वर्ग के साथ नहीं है जितनी गाँव के ही महाजनों से। 'गोदान' का कथानक किसान-महाजन संघर्ष को लेकर रचा गया है, उच्च वर्ग केवल चित्र की पूर्णता के लिये है। कथाक्रम में 'प्रेमाश्रम' की ही भांति तीव्रता है—वहाँ एक गाँव का गाँव स्वाहा हो जाता है, यहाँ होरी पूरे महाजन वर्ग और उसके सहायक जमींदार वर्ग के कारिन्दों से युद्ध करता हुआ परास्त होता है। किसान-महाजन संघर्ष का होरी ही एक महान् प्रतीक बन जाता है और उसका अकेला चरित्र कथा की एक-सूत्रता में सहायता करता है। उसके अनेक सहायक पात्र हैं जो शोषण-चक्र में पिसते दिखाई देते हैं। शोषकों में भी काफी विचित्रता है; इसलिए कथा की एकता के साथ उसकी विचित्रता और रोचकता में कमी नहीं होने पाती।

चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं में पैठते हुए भी परिस्थितियों के अनुसार उसका उत्थान-पतन दिखाते चलते हैं। सारा व्यापार अत्यंत स्वाभाविक और मानव सुलभ हो उठता है, और पाठक पर सत्यता की छाप डालता है। 'कायाकल्प' में चक्रधर का और 'रंगभूमि' में विनयसिंह का पतन इसके दो उदाहरण हैं। 'कर्म-भूमि' में अमरकांत का भी कुछ ऐसा हाल होता है। आत्मानन्द महंत का गुरुद्वारा घेर लेने के पक्ष में है, अमरकांत पहले समझौता की बात करना चाहते हैं। एक

बार वह अफसरों से मिलने जाते हैं। उनके व्यवहार से वह मुग्ध हो जाते हैं; चमारों से आत्मीयता और बन्धुत्व वाला भाव कुछ क्षणों को लोप हो जाता है। 'अफ़सरों की सोहबत ने कुछ अफ़सरी शान पैदा कर दी थी।' लोगों से कहा—'हाकिम परगना तुम्हारी हालत जाँच करने आ रहे हैं। खबरदार! कोई उनके सामने झूठा बयान न दे। ···तहकीकात में देर जरूर लगेगी; लेकिन राज्य-व्यवस्था में देर लगती ही है।··रुपये में आठ आने छूट का ज़िम्मा मैं लेता हूँ। सब्र का फल मीठा होता है, इतना समझ लो।' धीरे धीरे आत्मानन्द भी अमरकान्त की सलाह मान गये। वह सभा में लोगों को बाकी लगान दे देने की सलाह दे रहे थे। उसी समय अमरकांत को घर का पत्र मिला जिसमें उसकी स्त्री सुखदा की गिरफ्तारी और जेल-यात्रा का वृत्तांत था। तुरंत ही अमर की कल्पना अपनी वीरांगना नारी के अतिरञ्जित चित्र खींचने लगी। 'ऊपर असीम आकाश में केसरिया साड़ी पहने कौन उड़ी जा रही है? सुखदा! सामने की श्याम पर्वत-माला में गोधूलि का हार गले में डाले कौन खड़ी है?' इसका परिणाम यह हुआ कि उसने सभा में बड़ा ही उग्र भाषण दिया और अपना पक्ष छोड़ लगान बन्दी का ज़ोरों से समर्थन किया। परिस्थिति के चक्र में उत्थान-पतन दोनों होते हैं। 'ग़बन' में जोहरा रमानाथ को फँसाना चाहती है, परन्तु उसकी स्त्री जालपा को राजबंदियों के निःसहाय कुटुम्बियों में बर्तन माँजते देख उसका हृदय पसीज उठता है और वह जालपा

की सबसे बड़ी हितू बन जाती है। 'गोदान' में विलास-प्रिय मालती के चरित्र का विकास भी ऐसा ही हुआ है।

मनुष्य के भावों-विचारों में किस तरह छोटी-छोटी गुत्थियाँ पड़ती और सुलझती हैं, इसका चित्रण करने की प्रेमचन्द में अद्भुत क्षमता है। 'गोदान' का १०वाँ अध्याय एक उदाहरण है। होरी रात से अपने खेत के पास की मड़ैया में लेटा है; उसकी स्त्री धनिया खबर लाती है कि उसके लड़के गोबर की छोड़ी हुई स्त्री झुनियां उसके यहाँ आश्रय चाहती है, पाँच महीने का उसके गर्भ है। धनिया उसे घर में रखने के पक्ष में नहीं है, होरी उसे हाथ पकड़ दूर कर देने की बात कहता है। दोनों घर की ओर चले तो पति-पत्नी में विवाद होने लगा। धनिया को चिंता हुई, रात को कहाँ जायगी; कहीं डर-डरा न जाय। घर तक पहुँचते धनिया होरी को कसम खाने लगी कि उस पर हाथ न उठाये। और घर के भीतर जब होरी पहुँचा तो सामाजिक मर्यादा-ज्ञान के ऊपर उसकी ग्रामीण सहृदयता जाग उठी, अपने पैरों पर पड़ी झुनिया से वह यही कह सका—'डर मत बेटी, डर मत। तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह।' मानव चरित्र में ऐसे घात-प्रतिघात उनके उपन्यासों में भरे पड़े हैं। इसीलिए उन्हें पढ़ते ही उनकी यथार्थता पर विश्वास हो जाता है—प्रेमचन्द ने मनुष्य की कमजोरियों और शहजोरियों का निकट से अध्ययन किया था, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट मालूम होता है।

कहानी में चरित्र-विकास और कथानक के नियम दूसरे ही हैं। सूक्ष्म मनोविज्ञान की बातें यहाँ खूब उभर कर आती हैं और कहानी को सुन्दर बना देती हैं। दूसरे प्रेमचन्द की शब्द-चित्रण की प्रतिभा के लिए यहाँ विशेष क्षेत्र रहता है। 'रंगभूमि' में ताहिरअली, नायकराम, राजा महेन्द्रप्रताप आदि के जैसे शब्द-चित्र उन्हों ने दिये, या 'गोदान' में महाजनों के, 'प्रेमाश्रम' में चपरासी-कारिंदों के ऐसे शब्द-चित्र कहानी की जान हो जाते हैं। थोड़े में एक पात्र को सजीव आँखों के सामने खड़ा कर देने की क्षमता कहानी को सफल बनाने में विशेष सहायता देती है। प्रेमचन्द का व्यंग भी यहाँ खूब निखर आता है। जैसे 'शंखनाद' में चौधरी के बड़े लड़के बितान 'एक सुशिक्षित मनुष्य थे। डाकिए के रजिस्टर पर दस्तखत कर लेते थे। बढ़े अनुभवी, बड़े मर्मज्ञ, बड़े नीतिकुशल। मिर्जई की जगह कमीज पहनते, कभी-कभी सिगरेट भी पीते, जिससे उनका गौरव बढ़ता था।' प्रेमचन्द दो चार बातों को शब्दचित्र में ऐसा सजा देते हैं कि सारा चित्र जी उठता है; रेखाचित्र को सफल बनाने के लिये जैसे उसके सभी अंगों का पूरा पूरा बनाना आवश्यक नहीं होता केवल कुछ रेखाओं से ही वह सजीव हो उठता है। इसके साथ प्रेमचन्द का छिपा हुआ हास्य, चारित्रियक विशेषताओं पर व्यंग करता हुआ चलता रहता है। उपन्यास और कहानियों में वह समान रूप से देखने को मिलता है। 'दण्ड' (मानसरोवर, तीसरा भाग) कहानी में कचहरी उठ जाने के बाद 'अहलकार

और चपरासी जेबें खनखनाते घर जा रहे थे। मेहतर कूड़े टटोल रहा था शायद कहीं पैसे-धेले मिल जायँ। कचहरी के बरामदों में साँड़ों ने वकीलों की जगह ले ली थी। पेड़ों के नीचे मुहर्रिरों की जगह कुत्ते बैठे नज़र आते थे।' 'शतरंज के खिलाड़ी' उनके व्यंग और हास्य का सुन्दर नमूना है। 'कफ़न' में करुणा और हास्य अद्भुत रूप से मिले हुए हैं। कहीं कहीं यह हास्य यथार्थ के संघर्ष में आकर अत्यन्त कटु हो गया है। 'नशा' (मान० पहला भाग) में एक ठाकुर पूछने आता है, स्वराज्य में जमींदारों की ज़मीन छीन ली जायगी कि नहीं। कहानी का लेखक जो अपने मित्र के यहाँ जमींदार का स्वाँग बनाये हुये हैं, कहता है कि जो ज़मीन न देंगे, उनकी छीन ली जायगी, और अपने इलाके में स्वराज्य होते ही वह ज़मीन किसानों के नाम हिबा कर देगा। ठाकुर वहीं चलना चाहता है परन्तु लेखक बताता है कि अभी उसे अख्तियार नहीं है; होने पर बुला लेगा। मोटर ड्राइवरी सिखाकर ठाकुर के ड्राइवर बनने की बात भी पक्की हो गई। नतीजा यह हुआ 'उस दिन ठाकुर ने खूब भंग पी और अपनी स्त्री को खूब पीटा और गाँव के महाजन से लड़ने को तैयार हो गया।' मोटेराम वाली कहानियों में हास्य बहुत उथला है, परन्तु यह उथलापन तब आता है जब प्रेमचन्द हास्य की ही कहानी लिखना चाहते या हास्य परिस्थिति बनाना चाहते हैं। उन का हास्य सबसे सफल तब होता है जब चरित्र-चित्रण या वर्णन के साथ वह मिल जाता है या मनुष्य की छोटी-छोटी कमज़ोरियों

की ओर इंगित करता है।

चरित्र-चित्रण के लिए शब्द-चित्र ही एक साधन नहीं है; ज़्यादा काम वार्तालाप से लिया जाता है। पात्रों की बातचीत से उनके चरित्रकी विशेषता दिखाने में प्रेमचन्द ने कमाल किया है। बातचीत बहुत ही स्वाभाविक होती है और पात्रोंके अनुसार भाषा में भी परिवर्तन हुआ करता है। धाराप्रवाह बोलने वाली बातूनी स्त्रियों का 'गोदान' की धनिया एक उदाहरण है; अपनी बातों से वह बड़ों-बड़ोंके छक्के छुड़ा देती है और उसकी भाषा ऐसी रोचक होती है कि उसकी वक्तृता सुनते जी नहीं अघाता। मनुष्यों की बातचीत की स्वाभाविकता का तो कहना ही क्या; पशुओं के मूक संभाषण को भी प्रेमचन्द ने शब्दों में बाँध दिया है। पशु जिस प्रकार कुछ सोचते हैं, सोचने के बाद मिलकर कोई काम करते हैं,—कम से कम उनके कार्यों से भासित ऐसा होता है कि वे सोच रहे हैं, उस दशा का चित्रण 'दो बैलों की कथा' (मान०दू०भा०) में मिलता है। 'दूध का दाम' में टामी और मंगल की बातचीत ने यथार्थ और कल्पना के संमिश्रण से एक विचित्र भाव-जगत् तैयार कर दिया है। मंगल ज़मींदार के यहाँ से निकाल दिया गया है; वहाँ लौट कर नहीं जाना चाहता; टामी से सलाह करता है। 'खाओगे क्या टामी, मैं तो भूखा ही लेट रहूँगा।' टामी कूँ कूँ कर उत्तर देता है–'इस तरह का अपमान तो ज़िंदगी भर सहना है। यों हिम्मत हारोगे तो कैसे काम चलेगा। मुझे देखो न, अभी किसी ने डंडा मारा, चिल्ला उठा; फिर ज़रा देर बाद दुम हिलाता हुआ

उसके पास जा पहुँचा। हम-तुम दोनों इसीलिए बने हैं भाई।'

अधिकाँश कहानियों में प्रेमचन्द एक ही प्रधान घटना रखते हैं; कथानक की गति उसी की ओर होती है, और पाठक का ध्यान एक ही धारा में बहता है। उनकी सबसे सुंदर कहानियों में कथा का समय भी थोड़ा ही होता है। 'कफ़न' में सारी घटनाएं बिना टूटे हुए कुछ घंटों में हो जाती हैं। ऐसे ही उनकी अन्य सुंदर कहानी 'पूस की रात' (मान० पहला भाग) में केवल एक रात की घटनाओं का वर्णन है। 'शतरंज के खिलाड़ी' निर्माण-कला का सुन्दर उदाहरण है। 'सद्गति' में भी घटनाओं का क्रम टूटने नहीं पाता; दुखी चमार जब से घर से साइत विचरवाने चलता है, तब से उसकी मृत्युपर्यन्त उस पर से पाठक की दृष्टि एकक्षण को भी नहीं उठने पाती। जहां इस समय की एकता का विचार नहीं होता, वहाँ भी मूल समस्या एक ही हो, इस बात का ध्यान रखा जाता है। सारी बात प्रभाव की होती है; प्रेमचंद की कहानी का प्रभाव सधा हुआ और संगठित होता है। कहने कुछ लगे और कह गये कुछ, ऐसा देखने को नहीं मिलता। चरित्र-चित्रण और वार्ता दोनों का लक्ष्य ही इस प्रभाव को उभारता रहता है। अन्त में कहानी पढ़ने पर पाठक को एक तृप्ति मिलती है; समस्या सुलझ जाती है और पाठक आगे के लिए चिंतित नहीं रहता। कथा के आनन्द को प्रेमचन्द अधूरा नहीं रखते।

इसके साथ ही कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचन्द अपनी कथा के लिए उचित 'सेटिंग' तैयार कर लेते हैं। उनकी वर्णन-

शक्ति चित्र के पृष्टभाग को सजाने में सहायता देती है। 'पूस की रात' में ठंड का बड़ा प्रभावपूर्ण वर्णन है। थोड़े से ही शब्दों में प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष को वह सजग कर देते हैं। 'आकाश पर तारे भी ठिठुरते मालूम होते थे' या 'रात में शीत को हवा से धधकाना शुरू किया' ऐसे वाक्य गाँव में पूस की ठंड की कल्पना करा देते हैं। कहीं कहीं उनका प्रकृति-वर्णन कवित्वपूर्ण होने के साथ हल्की भावुकता लिये होता है। परन्तु बार-बार उनकी भाषा अपनी वर्णन-क्षमता से हमें अचम्भे में डाल देती है। 'अन्तस्तल की गहराइयों से एक लहर-सी उठती हुई जान पड़ी, जिसमें उस का अपना अतीत जीवन टूटी हुई नौकाओं की भांति उतराता हुआ दिखाई दिया।'—(जेल—समरयात्रा)। मनोभावों को दर्शाने के लिए उनकी चित्रमय व्यंजना देखते ही बनती है। जब बुढ़िया नोहरी दुखी हुई तो 'उसके मुख की झुर्रियाँ मानों रेंगने लगीं' (समरयात्रा-समर०)। शब्द-चित्र करुणा की व्यंजना साथ लिये है। भाषा को सबल बनाने के लिये प्रेमचन्द ने साधारण से साधारण बात को भी अपनाने में असाहित्यिकता का मान नहीं किया। 'मिस मालती मेहता के साथ चलने को तैयार हो गई। खन्ना मन में ऐंठकर रह गये। जिस विचार से आये थे, उसमें जैसे पंचर हो गया।'–(गोदान)। भोला एक जगह "अपील भरी आँखों" से होरी को देखता है; और दूसरी जगह गोबर के शब्द 'तपते हुए बालू की तरह (धनिया के) हृदय पर पड़े और चने की भांति सारे अरमान झुलस गये।' प्रेमचन्द की सफलता का

रहस्य बहुत कुछ उनकी भाषा है। पहले वह उर्दू में लिखते थे, इसलिए कुछ लोग कह देते हैं, उनके गद्य पर उर्दू की छाप है। प्रेमचन्द जैसे यथार्थ के विद्यार्थी के लिए उर्दू में बहुत दिन तक लिखना संभव न था। प्रेमचन्द के ग्रामीण पात्रों की भाषा देखने से यह स्पष्ट हो जायगा. क्या उनके सूरदास, कादिर, होरी, मनोहर, बलराज, गोबर, धनिया, दातादीन, झिंगुरीसिंह, आदि के उर्दू बोलने की कल्पना की जा सकती है? यद्यपि गाँव के किसान सचमुच तो अपनी देहाती बोली में बात करते हैं, परन्तु वह बोली हिन्दी के प्रति निकट होने से प्रेमचन्द के लिखे वार्तालापों में घुल-मिल गई है। किसानों को बातचीत कराने में प्रेमचन्द ने आसाधारण रूप से देहात के मुहावरों और शब्दों को अपनाया है। देहाती बोली और हिन्दी के एकीकरण में उन्हें इतनी सफलता मिली है कि गाँव का रहने वाला पाठक भी प्रेमचन्द के किसानों की बात सुनकर उसे अस्वाभाविक नहीं कह सकता। प्रेमचन्द के मुसलमान पात्र जो शहर में रहते हैं, उर्दू बोलते हैं, परन्तु जो गाँव के हैं, वे हिंदी ही बोलते हैं। इससे साम्प्रदायिक भेद-भाव से परे भाषा की एकता का पता चलता है। गांव के किसानों के लिये कौन भाषा सबसे सुलभ होगी, प्रेमचन्द के किसानों की बातचीत से देखा जा सकता है।

परन्तु प्रेमचन्द किसानों की बातचीत के लिए ही देहाती-से शब्द नहीं लेते; उनकी भाषा की गठन ही उस देहाती बोली की भूमि पर हुई है। जो सुंदर मुहावरे, कहावतें, उपमाएँ और हास्य

के पुट उनके गद्य में हमें मिलते हैं उन्हें प्रेमचन्द ने अपने गांव की बोली से सीखा था। अपनी उपमायें उन्होंने बहुधा ग्रामीण जीवन से ली हैं। 'गाय मन मारे उदास बैठी, जैसे कोई वधू ससुराल आई हो' (गोदान)। 'रग्घू खाने बैठा, तो कौर विष के घूँट-सा लगता था।...दो चार ग्रास खाकर उठ आया, जैसे किसी प्रियजन के श्राद्ध का भोजन हो' (अलगोझा— मान० पहला भाग)। 'तिलक-मंडप से अभी तक आग की ज्वाला निकल रही थी। राजा साहब और उनके साथके कुछ गिने गिनाये आदमी उसके सामने चुपचाप खड़े थे, मानो श्मशान में खड़े किसी मृतक की दाह क्रिया कर रहे हों' (कायाकल्प) इत्यादि। प्रेमचन्द की भाषा के अलंकार उसके प्रवाह में सहज ही सज जाते हैं। सारी बात अनुभव और सचाई की है। प्रेमचंद जनता को जानते थे, उसकी भाषा को जानते थे, वहीं से उन्हें शक्ति मिली है। चमत्कार उत्पन्न करने के सैंकड़ों उपाय हैं परन्तु प्रेमचंद को वे सोचने न पड़े थे। उनकी भाषा जितनी सरल और चमत्कारपूर्ण है, उतना ही वह जनता की भाषा में छिपे हुए वैचित्र्य और साहित्यिकता की गवाही देती है।

अस्तु, समाज-सुधारक प्रेमचंद से कलाकार प्रेमचंद का स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है। उनका लक्ष्य जिस सामाजिक संघर्ष और परिवर्तनक्रम को चित्रित करना रहा है, उसमें वह सफल हुए हैं। उनके उपन्यासों की लंबाई से अनुमान करना कि उनमें भरती की गई, भ्रमात्मक है। अपने बड़े उपन्यासों में उन्होंने समाज के

बृहत् चित्र दिये हैं, उसके लिये वैसा परिमाण आवश्यक था। लम्बे उपन्यास लिखने में प्रेमचंद अकेले नहीं हैं। विदेश के अन्य लेखकों ने भी, जिनकी कथा-वस्तु इस प्रकार की रही है, ऐसे उपन्यास लिखे हैं। 'निर्मला', 'सेवासदन' आदि लिखकर उन्होंने दिखा दिया है कि वह एक सुगठित कथा लिख सकते हैं, परन्तु इनका कलात्मक प्रभाव बड़े उपन्यासों से भिन्न है। समाज के बड़े-बड़े परिवर्तन-क्रम, जिनमें हमारी सभ्यता का ध्वंस और निर्माण होता है, जिनमें समाज की बड़ी-बड़ी वर्गशक्तियाँ अपनी-अपनी हार-जीत के लिये प्राणपन से चेष्टा करती हैं, जिनमें व्यक्ति से ऊपर उठ हम समाज के समूहों को ही पात्र-रूप में कार्य करते देखते हैं, वह संघर्ष की विशद कल्पना, सामाजिक विकास का सूक्ष्म विश्लेषण और चित्रकार की बड़े परिमाण में निर्माणकला छोटे उपन्यासों में सुलभ नहीं है। कहानियों में शब्द-चित्रों के साथ वह कथा-तत्व का पूरा ध्यान रखते हैं और हास्य और व्यंग्य उनके चित्रण को सजीव बनाते हैं। वार्तालाप में स्वाभाविकता ऐसी होती है कि जिस श्रेणी का व्यक्ति होता है, वैसी ही उसकी भाषा भी होती है। प्रेमचंद के पात्रोंकी भाषा एक अध्ययन करने की वस्तु है; देहाती, हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी और इनके मिश्रण से बनी अनेक प्रकार की भाषा-शैलियां एक युग के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का इतिहास है। 'कफ़न' के चमारों से लेकर 'शतरंज के खिलाड़ी' के बीते युग के नवाबों तक सैंकड़ों श्रेणियों के पात्रों का उनकी स्वाभाविक भाषा में बातचीत कराना समाज के अद्भुत ज्ञान

का साक्षी है। ऐसी क्षमता संसार के महत्तम साहित्यिकों में ही पाई जाती है; कहावतें, मुहावरे, उपमाएँ उन्होंने वहीं से सीखी हैं; भाषा की सरलता के लिये भी उन्हें वहीं से प्रेरणा मिली है। प्रेमचंद की कला का रहस्य एक शब्द में उनका देहातीपन है; ग्रामीण होने के कारण यह समाज के हृदय में पैठकर उसके सभी तारों से सम्बन्ध स्थापित कर सके हैं। अपनी भाषा के लिए, यह आवश्यकतानुसार अपने देहात के अनुभव पर निर्भर हो सकते थे और उसने उन्हें कभी धोखा नहीं दिया। देश के गरीबों के प्रति उनकी सहानुभूति, उनसे उनके प्रगाढ़ परिचय और उनके चित्रण की सचाई ने ही उन्हें सफल कलाकार बनाया है।

---

[२०]

जयशंकर 'प्रसाद' : एक अध्ययन

(श्री रामनाथ 'सुमन')

[१]

वह झाँकी !

महायुद्ध समाप्त हो गया था पर उसके व्यापक दुष्प्रभावों से समाज में एक कराह और एक आह अब भी थी। वे मेरे पनपने के दिन थे और मेरे चारों ओर धुँआँ था। खीझ थी पर असमर्थता भी थी और इसीलिये वह खीझ मेरे लिए और असह्य हो रही थी। भावुकता उड़ाये लिये जारही थी। पर यह उड़ान मेरा उड़ना न था क्योंकि मेरे अंदर वह ताकत मुझे अनुभव न होती थी। एक आध्यात्मिक बेचैनी थी पर उसमें समरसता न थी। मन पर विवेक का अंकुश न था। कल्पना का एक धुँधला, अस्पष्ट पचमेल वातावरण मेरे अंदर-बाहर चारों ओर फैला हुआ था और जब मैं उसे पाकर खुश था, वस्तुतः मेरे दम घुट रहे थे।

कुछ संस्कार, कुछ राज़नीति, कुछ काव्य, कुछ आध्यात्मिकता की एक खिचड़ी मेरे अंदर पक रही थी। आध्यात्मिकता कहते हुए

भी मैं अपने दुस्साहस का अनुभव कर रहा हूँ, क्योंकि उसके विषय में स्पष्ट विचार कर सकने की क्षमता मुझमें न थी पर अन्दर जो एक बेचैनी थी उसके लिये मुझे इससे उपयुक्त दूसरा शब्द नहीं मिल रहा है।

ऐसे १६१६ के वे दिन थे। मैंने लिखना शुरू ही किया था। साहित्य में मेरा जन्म गान्धी जी (गद्यात्मक लेख) और ईश-विनय (पद्य) को लेकर हुआ। ये दोनों धाराएँ आज तक मेरे जीवन में हैं; वे फैलती गई हैं, गहरी होती गई हैं, और उन्होंने मुझे उत्तरोत्तर परिष्कृत किया है और मुझ से परिष्कृत हुई हैं। पर तब ये कोयला थीं—कोयला जिनमें प्रकृति के आलोड़न और उत्ताप से हीरा बनता है, फिर भी व्यवहार और मूल्य में कोयला।

ऐसी मानसिक पार्श्वभूमि को लेकर मैंने उन दिनों पहली बार 'प्रसाद जी' के दर्शन किये थे। वह दृश्य मेरी आँखों के सामने बिल्कुल स्पष्ट और ताज़ा है। काशी का सराय गोवर्धन मोहल्ला, वही बरामदे में बिछा हुआ एक तख्त, कुछ लोगों की बैठक जिनमें काशी के एक प्रसिद्ध संस्कृत कवि और विद्वान् भी थे, उन लोगों के बीच एक प्रौढ़ युवक—गोरा-चिट्टा, मझोला क़द, गठा हुआ शरीर। एक राजकुमार-सा, पर आँखों में एक जादू और एक रहस्य। यही 'प्रसाद' जी थे।

उनसे बातें तो हुई पर बात मैंने कम की, दर्शन अधिक। वे आँखें, सारी बातों के बीच रह-रह कर मेरे सामने प्रधान हो

उठती थीं। उनमें संसार के प्रति विनोद का एक अद्भुत भाव था। उनमें दुनिया का दर्शन था, पर उसके प्रति एक सूक्ष्म हँसी, एक सूक्ष्म और रहस्यमय विनोद भी था। वे जैसे छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे सब में रस लेतीं और फिर भी सबसे अलग, निस्संग थीं।

तब से लगातार अठारह-उन्नीस वर्षों तक मेरी 'प्रसाद' जी के साथ अत्यन्त निकटता रही है। मैंने उन्हें खूब देखा है; हर पहलू से देखा है। उनका शरीर बदलता गया, उनकी परिस्थिति बदलती गई, उनके चारों ओर का संसार कुछ का कुछ होता गया पर वह दृष्टि ज्यों की त्यों रही—और स्पष्ट होती गई। 'प्रसाद' जी की आंखें उनके जीवन की कुञ्जी थीं। वे उनमें जो कुछ महान् था उसकी मूर्तिमान् प्रतीक थीं। आज जब वह नहीं हैं, तब भी वे आंखें मेरे सामने हैं।

[२]

जीवन की कुञ्जी :

यह मैंने वैसे तो एक जरा-सी बात कही है पर यह वस्तुतः, तत्वतः बहुत बड़ी बात है। इस छोटी-सी बात में उनका जीवन घनीभूत होकर समाया हुआ है। यह उनके जीवन की कुंजी है। और व्यक्तिगत जीवन में, साहित्यिक जीवन में, सामाजिक जीवन में सर्वत्र उनकी साधना इसी कहने में छोटी पर करने में महान् चीज को लेकर चलती रही। हिंदी को गर्व करने योग्य रचनाओं का दान करते हुए भी कभी साहित्यिक कार्यक्रमों में

क्रियात्मक भाग उन्होंने नहीं लिया। वह सभाओं, संस्थाओं, सम्मेलनों से सदा दूर रहे। हम लोग जब उनकी इस रुक्षता, इस बेदिली के लिये उन्हें फटकारते या खीज प्रकट करते तो वे केवल मुस्करा देते थे। इस मुस्कराहट में शक्ति तो थी पर अहंकार न था। इतना लिखकर और प्रचार के इतने साधनों के होते हुए भी उनका यों अलग रहना, उनकी जीवन-व्यापी साधना का अंग था। यह समरसता और निस्संगता की साधना थी, जो प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक थी। इसीलिये दुःख में, सुख में, प्रशंसा में, निंदा और विरोध में वह अपनी आनंद की वृत्ति को समरस और संतुलित रख सके थे। किसी की प्रशंसा से उन्हें फूलते मैंने न देखा और किसी की निन्दा से उनके हृदय को विषैला या उत्तेजित होते भी न देखा। जैसे जीवन के अतल से एक शक्ति की धारा निकली हो और स्थान और स्वागत की परवाह किये बिना अपने गन्तव्य स्थान की ओर चली जा रही हो। जैसा कि मैंने अन्यत्र लिखा है, दुख में, सुख में, समाज में, साहित्य में सर्वत्र आनन्द की साधना ही उनका लक्ष्य था। यह आनन्द सबके प्रति निरपेक्ष और समरस होकर ही प्राप्त हो सकता था। पर यह निरपेक्षता या समरसता दार्शनिक या योगी की निरपेक्षता या समरसता न थी। यह एक गृहस्थ की वह समरसता थी जिसके द्वारा उन्होंने मानवता को एक व्यावहारिक आदर्श का सन्देश दिया था। यह उनके निकट कोई रहस्यमय, दूरस्थ और अप्राप्य आदर्श न था वरन् जीवन का

एक मात्र श्रेष्ठ, स्वस्थ एवं कल्याणकारी दृष्टिकोण था। मैंने जीवन में अनेक महात्माओं और महापुरुषों का साक्षात् किया है—सार्वजनिक रूप से अज्ञात भी और ज्ञात भी। इनमें तीन चार तो अत्यन्त उच्चकोटि के योगी थे और उनकी अनासक्ति बड़ी ऊँची सीमा तक बढ़ी हुई थी। पर यह बात कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और रस में डूबकर भी, जीवन की अतिव्याप्तियों से अलग रहना, और अपने लक्ष्य और आनन्द में सदा तन्मय रहना मैंने अपने जीवन में केवल दो ही आदमियों में देखा है—एक गांधी जी, दूसरे 'प्रसाद' जी। मैं जानता हूँ कि मैं एक बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ पर मैं उसकी जिम्मेदारी समझता हूँ। निस्संदेह इस वृत्ति का विकास दोनों में अलग-अलग ढंग पर हुआ है; दोनों की साधना और उस साधना की व्यापकता में भी भेद है, पर दोनों में प्रत्येक अवस्था में आनन्द प्राप्त कर सकने की क्षमता दिखाई देती है। गांधी जी का जीवन व्यक्तिगत कुछ भी नहीं रह गया है; वह सम्पूर्णतः समर्पित जीवन है। वह निस्वः होकर सर्वस्व हो गये हैं। वह रिक्त होकर पूर्ण हैं। उनकी साधना की पार्श्वभूमि भी विराट् है और इस 'कनवैस' पर जो जीवन उन्होंने चित्रित किया है वह उससे भी महान् है। इसलिये उनका आनन्द उन्हीं तक नहीं रह गया है; उसने लक्ष-लक्ष प्राणों को अपनी आनन्द साधना में जोड़ लिया है। उनके हृदय का स्पंदन कोटि-कोटि हृदयों में होता है। 'प्रसाद' जी की साधना की पार्श्व-भूमि में यह आध्यात्मिकता, यह सर्वस्वार्पण नहीं है। वह किंचित

रंगीन, अलंकृत, सामन्ती वैभव से अतिरंजित है। इस पार्श्वभूमि या बैकग्राउण्ड में 'ग इतने तीव्र हैं कि उस पर उनके जीवन का चित्र दब गया है, रेखायें साधारण और यों ही सरसरी नज़र डालने वाले दर्शक को दिखाई नहीं देतीं। पर ध्यान से देखने पर यह चित्र, यह जीवन भी अपनी लघु सीमा में अत्यन्त साधनामय और महान् दिखाई पड़ता है।

चिर-काल से ही मनुष्य आनन्द के शोध में विकल है। चाहे कोई 'इज़्म' या 'वाद' हो, सब का लक्ष्य आनन्द का शोध ही है। भेद और संघर्ष पथ और आनंद की परिभाषाओं को लेकर हैं। इस विभेद में 'प्रसाद' जी हमें अभेद का सन्देह देते हैं। उनका आनन्द एक कवि, एक चित्रकार, एक कलाविद्, एक साहित्यकार का सामञ्जस्यात्मक आनन्द जो प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक पग पर प्राप्य है। यह मंजिल कठिन होने पर हर क़दम पर है—यदि हम देख सकें और पा सकें।

[३]

साधना का विकास

चूंकि व्यापक समाज से प्रसादजी का संबंध केवल साहित्यकार के रूप में आता है इसलिये उनकी साधना का वह सब अंश जो निजी था, अज्ञात ही रह गया है। यदि हम उसे देख सकते तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते कि समाज ने उन्हें जिस रूपमें पाया, जिन रचनाओं में पाया, उससे उनका अज्ञात भाग कहीं श्रेष्ठ और महान् था। किसी प्रसिद्ध जापानी कवि ने, कदाचित यून

नगोची ने, एक बार लिखा था कि वस्तुत: कवि की सर्वश्रेष्ठ रचनायें तो अलिखित या अमूर्त्त ही रह जाती हैं और बहुत हुआ तो श्रेष्ठतम के दूसरे दर्जे की (Second best) रचनाओं से ही दुनिया का परिचय हो पाता है। इसमें एक महान् सत्य की अवतारणा की गई है। जितने भी चिरन्तन तत्व हैं, साधनों की अपूर्णता या सापेक्षिक पूर्णता के कारण केवल अनुभवगम्य हैं। वाणी, स्वर, लेखनी, रूप, 'स्पिरिट' की झलक-मात्र दे सकते हैं, इसलिये यह आश्चर्य नहीं कि कवि 'प्रसाद' या साहित्यकार 'प्रसाद' से मानव 'प्रसाद' कहीं सुन्दर और श्रेष्ठ, कहीं शिव थे। उनका साहित्य उनकी इस आनन्द-साधना की एक आंशिक अभिव्यक्ति है। यह केवल उनके जीवन का एक पहलू है। इसमें भी उनकी निजी साधना का ही प्रकाश है और उस साधना को रूप और रंग दे देने की चेष्टा है। फिर भी हम सबके सामने उनका यही रूप है; इसलिये हमें मुख्यत: उसी के आधार पर उनको देखना और समझ लेना है।

× × × ×

'प्रसाद' जी उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग में पैदा हुए थे। यह वह जमाना था, जब दुनिया आधुनिकता की तरफ़ किंचित् बढ़ने लगी थी। उसके ओठों पर एक प्रश्न था, पर पांव उस प्रश्न के हल होने तक रुकने को तैयार न थे। दुनिया संस्कृतियों के दिन-दिन बढ़ते हुए संघर्ष और नवीन की प्रसव-पीड़ा से व्यथित थी। भारतवर्ष में प्रभात का सन्देश एक अस्पष्ट प्रतिध्वनि-सा

सुनाई पड़ने लगा था । आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, थियोसफी, स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ की वाणी ने भारतवर्ष को उठकर अपने को, और अपने चारों ओर देखने को बाध्य किया। यह हमारे चैतन्य की गोधूली थी । न पूरा अंधेरा, न पूरा उजाला । दोनों के बीच एक धुन्धला-सा अपने भविष्य का आभास, पर आशाओं और सम्भावनाओं से भरा हुआ। इस जागरण की प्रेरणा के बीच उच्च कोटि के मध्यगृह का वही आराम और गतानुगतिकता का वातावरण था; आदमी अपने जीवन के सामन्तशाही रूप को लिये चल रहा था। ऐसे ही युग में 'प्रसाद' जी का जन्म हुआ था।

सामूहिक चेतना या जातीय चेतना की यह गोधूली औसत दर्जे के आदमी के लिये बड़ी खतरनाक होती है। वातावरण में संघर्ष और बोझ इतना ज्यादा होता है कि वह उनसे दब जाता है। उसकी अपनी विशेषता नष्ट हो जाती है। उसके पास स्वयं जगत् को देने को कुछ नहीं रह जाता; व्यक्तित्व का लोप हो जाता है और प्रायः वह मशीन से दब कर निकले हुए एक ही रंग-ढंग वाले सिक्कों-सा हो जाता है। वातावरण की छाया-मात्र उस पर रह जाती है, उसका अपना कुछ नहीं बचता।

ऐसे ही संघर्ष और कठिनाइयों के वातावरण में 'प्रसाद' जी पनपे थे। वह मशीन का एक मूल्यवान पर साधारण सिक्का नहीं बन गये, यह ज़रा-सी बात ही उनकी उस महान् अन्तःशक्ति का प्रमाणपत्र है जो वातावरण की कठिनाइयों और प्रलोभनों को

पार करती हुई आगे बढ़ती गई। वह वैभव के वातावरण में पले। प्रायः वैभव लोगों को निगल जाता है पर प्रसाद जी वैभव के वातावरण में पल कर भी वैभव में विलीन नहीं हो गये। इस विष का पान करते हुये भी उन्होंने अपनी प्रबल क्षमता से उसका असर अपने मानस पर नहीं होने दिया। अपने अमृत से उसे प्रभाव-हीन कर दिया।

प्रसाद जी १२-१३ वर्ष की अवस्था से ही साहित्य की ओर आकर्षित हुये थे। यानी बचपन से ही साहित्य के साथ उनका सम्पर्क हो गया था। इसी कारण हम उनकी रचनाओं में उनके बचपन से लेकर उनके अन्तिम जीवन—प्रौढ़ यौवन तक की झलक देख सकते हैं; और उनके जीवन को छोड़ दें तब भी साहित्य में उनके जीवन और उसके तात्विक आधार का, उनकी साधना का जो प्रकाश है उससे उसके विकास और उसकी प्रगति की एक सूक्ष्म रेखा देखी जा सकती है।

'प्रसाद' जी की आरम्भ की कविताओं को लीजिए। उन सब में एक प्रश्न, एक कुतूहल और जिज्ञासा का स्वर है। कवि प्रकृति में, फूलों में, चाँदनी में, नदियों में—सर्वत्र किसी महत्तर शक्ति का व्यक्तिगत स्पर्श पाता है। यह सब सनातन पुरुष के सुन्दर और व्यापक शरीर-सा फैला हुआ है। हम कुछ और आगे बढ़ते हैं और देखते हैं अब कवि उस सौंदर्य पर मुग्ध होने लगा है। उसे अनुभूति तो नहीं पर यह आभास होने लगा है कि यह सौंदर्य भी उसी महासुन्दर का एक प्रकाश है। चूँकि आरंभ

रूपा कुमारी

से ही प्रकृति के मूल में उसने एक पुरुष की झलक देखी है, सारी प्रकृति धीरे-धीरे उसके काव्य में मानव-सापेक्ष्य होती गई है। प्रकृति के तत्व मन की अवस्था के साथ-साथ चलते हैं; वे दुःख में रोते और सुख में हँसते हैं। प्रकृति का विकास मानव के लिए होता है; उसका ह्रास भी मानव के लिए होता है।

प्रकृति-दर्शन की यह मानव-सापेक्ष्यता 'प्रसाद' जी की कविता की एक महत्वपूर्ण कुञ्जी है। यह एक महत्वपूर्ण तत्व है। इससे संसार में चरम भोग और इन्द्रिय-रंजन के विचारों को भी बल मिला है। 'संसार हमारे लिए, हमारे भोग के लिए है' यह ग़लत धारणा भी लोगों की बनी है, पर तत्वतः यह सिद्धान्त मानव की परम व्यापकता, सर्वभूतों के साथ उसकी अनन्यता की ओर ले जाता है। यह महाप्रकृति के साथ सनातन पुरुष की एक-रसता स्थापित करता है। यह कहता है—मानव (मानवात्मा) मूलतः आनन्दमय है और यह आनन्द प्रकृति और उसके विकसित एवं व्यक्त रूप, विश्व के साथ समरसता, संतुलन रखने से प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकृति-सापेक्ष्यता के प्रारम्भिक रूप के अतिरिक्त आरम्भ की कविताओं में समाज की प्रचलित विचार-धाराओं एवं प्रायः परस्परविरोधी अनेक स्वरों की प्रतिध्वनि और झलक भी है। पर ज्यों-ज्यों काव्य की मुख्य धारा आगे बढ़ती गई है, ये चीज़ें दबती गई हैं। 'झरना' तक आते-आते निसर्ग का मानवी रूप स्पष्ट होने लगा हैं। इसके पूर्व की श्रेष्ठ कृति 'प्रेम-पथिक' में विकसित

होते हुए मानस की पूर्ण आदर्शवादिनी प्रेम-कल्पना है। ऐसी दूसरी चीज़ फिर कवि ने नहीं लिखी और आगे उसका प्रेम काल्पनिक जगत् की आदर्शवादिता से हटकर इसी संसार की भूमि में दृढ़ हुआ है। 'प्रेम-पथिक' में हम कवि के प्रेम का तात्विक रूप देखते हैं। यह प्रेम का अव्यक्त आदर्श रूप है। इसके बाद 'झरना' में हम इस प्रेम पर किंचित् मांसलता की छाया पाते हैं, फिर भी आदर्शवादी और अव्यक्त प्रेम ही यहाँ प्रधान है। 'आँसू' में हम इस प्रेम के मानवी रूप को और विकसित देखते हैं। यहाँ भावना है पर उस पर अनुभव और विवेक का अंकुश है। आदर्श है पर रूप प्राप्त कर वह मांसल भी बना है। कवि के जीवन में तूफ़ान आया है; भयंकर मानसिक संघर्ष और पीड़ा का भार उसे उठाना पड़ा है पर अन्त में आँधी की धूल और पीड़ा का अन्धकार शान्त हो गया है। जीवन की शक्ति बढ़ी है; कवि पहले से अधिक स्वस्थ है। उसने मध्य मार्ग ग्रहण किया है और जीवन के उतार-चढ़ाव में समरसता की शिक्षा ग्रहण की है। उसके 'आँसू' जीवन को विषाक्त नहीं करते, उस की जड़ों को सींचते और बल देते हैं। यहाँ विरह में मिलन और दुःख में सुख है। यहाँ आँसू में, रोदन में निराशा का मारक दंश नहीं; निर्माण की आशा और विश्वास है। यह जीवन की मृत्यु पर विजय है। इस अश्रु-वर्षा में गलत भावनाओं की आँधी की धूल बैठ गई है और मन का आकाश स्वच्छ एवं निर्मल हो गया है। 'प्रेम-पथिक' संसार में कवि के प्रवेश करने या संसार से उसके घनिष्ट सम्पर्क से पूर्व की रचना है और

'आँसू' संसार के घनिष्ट सम्पर्क में आने और हृदय के संघर्ष और आलोड़न के बाद की रचना है। दूसरे में संसार के ताल पर कवि का सम पड़ता है। यहाँ जीवन का एक समतौल हम देखते हैं। यह समतौल अनुभव और संघर्ष का परिणाम है, कोई भावुकता का स्वप्न नहीं।

'आँसू' के कई वर्ष बाद, हम कवि 'प्रसाद' को 'कामायनी' के स्रष्टा के रूप में आते देखते हैं। सचमुच 'कामायनी' एक परिपूर्ण सृष्टि ही है। ऐसी उदात्त धारणा और उस धारणा का ऐसा सुन्दर निर्वाह हिन्दी तो क्या संसार के कम ही काव्यों में मिल सकता है। 'कामायनी' जीवन के मंथन का अमृत है। इसमें कवि की साधना का पूरा विकास हुआ है। मानव-जीवन जिस आधार को लेकर शिव हो सकता है, जहाँ विभेद नहीं, होड़ नहीं; जहाँ जीवन क्षुद्र खंडों में बँटा हुआ एवं एकांगी नहीं है, जहाँ वह प्रति पग पर सन्तुष्ट संतुलित आनन्दी और अनाक्रामक है, वह आधार और वह पृष्ठभूमि, वह संकेत और धारणा हमें 'कामायनी' में मिलती हैं। 'कामायनी' कवि की जीवन-साधना की परिपूर्णता का प्रतीक है। हमने 'कामायनी' के रूप में एक ऐसी चीज़ पाई है जो असाधारण है और जिसकी धारणा और उठान इतनी गहरी और इतनी ऊँची है कि हम आश्चर्य से अभिभूत हो उठते हैं और शीघ्र हमें उसकी महत्ता की अनुभूति भी नहीं होती।

× × ×

जो बात उनकी कविता में है, वही उनकी गद्य-रचनाओं में

भी प्रकारान्तर से आई है। उनके नाटक और कहानियाँ एक विशेष पृष्ठभूमि पर खड़ी हैं। बौद्धयुग और मध्य हिन्दू-काल के उनके नाटक समाज-रचना का एक आवश्यक उपकरण लेकर हमारे सामने आते हैं। उनमें मूर्च्छित हिन्दू चेतना की विकृति को दूर करने के लिए आवश्यक उपादान संगृहीत किये गये हैं। उनमें नारी और पुरुष दोनों के समुचित सम्बन्ध और एक-दूसरे के प्रति तथा समाजरचना में उनके कर्त्तव्य का सन्देश है। उन में बौद्धिक संतुलन द्वारा दुःखों पर विजय का आवाहन है। इतिहास के मौन ध्वंसावशेष यहाँ बोलते और अपने अनुभवों की ओर इशारा करते हैं। उनकी कहानियाँ भी, जो ऊपर से भाव-प्रवणता के ऊपर आश्रित-सी मालूम पड़ती हैं, वस्तुतः नर और नारी के स्वस्थ सम्बन्धों की पार्श्व-भूमिका पर चित्रित हुई हैं। और उनमें भी एक मानसिक समरसता का बौद्धिक दृष्टिकोण ही प्रधान है। इस तरह क्या गद्य, क्या पद्य, सर्वत्र कवि 'प्रसाद' की रचना के पीछे जीवन का एक विशेष प्रयोजन है। यह प्रयोजन निश्चय ही उपदेशक या दार्शनिक का उपदेश या विवेचन नहीं, यह अत्यन्त स्वाभाविक रूप से व्यक्त होने वाली जीवन की कला है।

[४]

अध्ययन-विश्लेषण

यह सब जो मैं लिख गया हूँ, इससे 'प्रसाद' जी के बारे में एक राय बनाने में मदद मिल सकती है। और इतना कह लेने के बाद अब हमें समस्या को एक जगह केन्द्रित करके देख लेना और

'प्रसाद' जी को समझ लेना है। पहली बात तो यह कि 'प्रसाद' जी एक साधक होकर भी वादों की शृंखला से आबद्ध नहीं थे। उनकी साधना सच्चे कलाकार की साधना थी, विरागी या योगी की नहीं। उनका अनुभूति का तत्व ग्रहणशील, रसात्मक और आनन्द के प्रति संवेदनशील था। उसमें योगी के विजातीय द्रव्यों के बहिष्करण का क्रम—'प्रासेस ऑफ़ एलिमिनेशन'—न था। उसमें ज्ञानी के चिरविवेचन का आग्रह न था। उसमें कर्म का प्रचण्ड ताप और कोलाहल अथवा भावना का प्रखर उद्वेग भी नहीं था। यहाँ प्रति पग पर शिव की अनुभूति का तत्व था। प्रति पग पर समरसता की अनुभूति की चेष्टा थी। इसमें आत्यंतिक त्याग का भाव न था; न आत्यंतिक भोग की ही भावना थी। यहाँ त्याग और ग्रहण, योग और भोग, सुख और दुःख, प्रकाश और अंधकार समता की अनुभूति में आबद्ध थे। अथवा यों कहिए कि इन सब में कवि के लिए आनन्द का तत्व था। सब में उस की शिव की साधना ओतप्रोत थी।

जीवन के प्रति सच्चे कलाकार का निस्संग होकर सब कुछ चित्रित करने का यह भाव 'प्रसाद' जी की विशेषता है।

कोई इसे भावना की उड़ान, कोई आदर्शवादी प्रवृत्ति, कोई वस्तुवाद बताते हैं। पर असल बात तो यह है कि 'प्रसाद' जी वादों के बन्धन से मुक्त थे या मुक्त रहने की चेष्टा उन्होंने की। उनके लिए आदर्शवाद न सर्वथा मिथ्या था, न वस्तुवाद सर्वथा सत्य था। कला की साधना इस प्रकार बँटी न थी। वह जीवन

के प्रत्येक पहलू में तन्मय थी, प्रत्येक से रस और रंग लेती थी, प्रत्येक के प्रति जागृत या उद्बुद्ध थी —उस वृक्ष की भांति, जिस के लिए वर्षा और धूप, अंधकार और प्रकाश दोनों आवश्यक हैं। 'प्रसाद' जी ने अपने अस्तित्व से न डिगते हुए प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक दिशा से अपने उपकरणों का संचय किया और फिर उसे अपना एक विशेष रंग देकर जीवनमय कर दिया—जैसे कुशल चित्रकार अपनी तूलिका के सहारे साधारण दृश्य पर जड़वत् वस्तुओं को जीवनमय कर देता है। इस प्रकार की स्थिति को यदि हम कुछ कह सकते हैं तो एक साहसिक—'डेयरिंग'—आदर्श ही कह सकते हैं। जो लोग वास्तविकता से आदर्श को बिल्कुल सम्बन्ध-रहित समझते हैं, उनको इससे भले ही आश्चर्य हो पर इसमें आश्चर्य करने जैसी कोई बात नहीं है। आदर्श कोई जीवन से भिन्न पदार्थ नहीं है; इसीलिए जीवन का आदर्शवादी दृष्टिकोण व्यावहारिक दृष्टिकोण से सर्वथा स्वतंत्र भी नहीं है। दोनों लक्ष्य या मंजिल के सापेक्षिक अन्तर को प्रकट करते हैं। जो चीज कल आदर्श थी, आज साधारण व्यवहार के बीच आ जाती है। जीवन के मार्ग में कल जो आदर्श था, आज हम वहाँ पहुँच जाते हैं और वह आदर्शवादी तत्व वस्तुवादी तत्व में परिणत हो जाता है। जैसे सत्य और कल्पना साधारण व्यवहार में एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत समझे जाते हैं पर वस्तुतः विपरीत नहीं वरन् सम्बन्धित हैं, वैसे ही सच्चे द्रष्टा या कलाकार के लिए आदर्शवाद और वस्तुवाद एक ही जीवनतत्व के

दो अंश या पहलू हैं। इस तरह मैं मानता यह हूँ कि 'प्रसाद' जी ने वादों और गतानुगतिकताओं के बन्धनों को तोड़ कर जहाँ से जो रंग अपनी कला के लिए उपयुक्त समझा, ले लिया है। यह उनकी और उनकी कला की दूसरी विशेषता है।

तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी सारी रचनाओं का आधार उनकी एक विशेष बौद्धिक पृष्ठभूमि है। यह बौद्धिक धारणा उनकी कविता में भी है, कहानियों में भी है, उपन्यासों में भी है और नाटकों में भी है। इन सब का ढाँचा तो ऐसा है कि सरसरी निगाह से देखने वालों को इनमें भावना की प्रधानता सर्वत्र दिखाई पड़ती है और जैसा कि मैंने स्वयं कहीं लिखा है, इनका लेखक स्पष्टतः एक कवि, कहानी या नाटक-लेखक-सा मालूम पड़ता है पर इस ढाँचे के नीचे प्राण की जो प्रतिष्ठा की गई है, उसमें भावना की अपेक्षा एक अन्तर्भेदी दृष्टि और एक पैनी बुद्धि को हम हर जगह सजग और प्रश्न करते हुए देखते हैं। भावना की देह भी श्रेष्ठ बौद्धिक प्रतिभा के कारण ही प्राणवान और जीवित है। भावोद्वेग—'सेण्टीमेण्ट'—के सहारे वे समाज के किसी प्रश्न, मानव की किसी समस्या के हल होने की आशा नहीं करते। ऐसा नहीं कि भावना उनकी दुनिया में अनावश्यक है; नहीं, भावना उनकी दुनिया में बहुत महत्वपूर्ण वस्तु है पर उस पर विवेक और नियंत्रण है।

इसीलिए हमारे साहित्य में 'प्रसाद' जी ने वस्तुतः उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण और जबर्दस्त भाग लिया है जितना साधा-

रणतः समझा जाता है। 'प्रसाद' जी केवल ४८ वर्ष की आयु में संसार से चले गये। उनसे कहीं अधिक आयु वाले, साहित्य के आचार्य और गुरुजन, हमारे बीच अब भी विद्यमान हैं। इनमें से कइयों ने हिन्दी की बड़ी भारी सेवा की है और उसके गौरव हैं। पर 'प्रसाद' जी ने हिन्दी की 'स्पिरिट' को बदलने, उसे मोड़ने और स्वस्थ एवं सन्तुलित दृष्टिकोण पैदा करने का जो काम किया है, वह दूसरे किसी से नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जो ग़लत, अस्वास्थ्यकर, अस्पष्ट और अपने आप में ही उलझा हुआ दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य में प्रधानता प्राप्त कर रहा था, उस रसहीन दृष्टिकोण के प्रति पहली बार 'प्रसाद' जी ने विद्रोह किया। उन्होंने पहली बार साहित्य को एक स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टि प्रदान की। पहली बार उन्होंने शृङ्गार को जीवन में उसका उपयुक्त और स्वास्थ्यकर रूप दिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद जी—इनको मैं आधुनिक हिन्दी के निर्माता मानता हूँ। इनमें भी भारतेन्दु और 'प्रसाद' जी ने हिन्दी की आधुनिक प्राण-धारा के निर्माण में सब से अधिक काम किया है। भारतेन्दु ने उसकी ओर संकेतमात्र किया था, प्रसाद जी ने उसे अपने भगीरथ प्रयत्नों से साहित्य के मैदान में ले आये। द्विवेदी जी, प्रेमचन्द और मैथिलीशरण का सम्बन्ध, साहित्य-निर्माण के कार्य में, 'फ़ार्म' से, शैली और साहित्य की आकृति से, अधिक रहा है। आश्चर्य तो यह है कि इतना महत्वपूर्ण कार्य करने पर भी, बहुत कम लोग, हमारे

साहित्य में 'प्रसाद' जी की इस श्रेष्ठ देन को समझते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि साहित्य के विकास का बड़ा ही विश्रृङ्खल और असम्बद्ध अध्ययन आज कल हो रहा है; दूसरी बात यह है कि इस विद्रोह में भी अपनी प्रकृति के कारण 'प्रसाद' जी कोई ऐसा ज़ोर का धक्का साहित्य को न दे सके कि प्रत्येक आदमी समझ लेता कि एक उथल-पुथल होगई है। इसका कारण 'प्रसाद' जी का संगठित प्रचार से भागना थ।

❀ ❀ ❀

पर जब मैं यह सब कह रहा हूँ तब उनकी कमज़ोरियों को भी भूला नहीं हूँ। पहली बात तो यह कि साहित्य में जिस महान् धारणा—'ग्रैण्ड कन्सेप्शन'—को वह ले आये और जो महत्वपूर्ण विद्रोह साहित्य की प्रचलित रस-हीन पद्धति और शुष्क एवं निष्प्राण होती हुई विचारधारा के प्रति उन्होंने किया, अपनी एक विशेष मनोरचना के कारण वह उसका बोझ नोउठ के सर्वथा उपयुक्त न थे। विद्रोह की सफलता के लिए जिस संघर्ष में प्राण-वान हो उठने वाली मनोवृत्ति की, जिस जोरदार नेतृत्व—Vigorous lead—की आवश्यकता होती है, उसे वह न दे सकते थे। उनका तरीका चुपचाप काम करते जाने का तरीक़ा था, जिसे विकास का क्रम कहा जा सकता है। इस क्रम से विद्रोह और क्राँन्तियाँ नहीं हुआ करतीं, क्योंकि समाज या मानव अपने में इतना मग्न होकर चलता है कि चलते २ जब तक उसे गहरा धक्का न लगे वह कोई नया विचार ग्रहण करने की आवश्यकता

नहीं समझता। प्रसाद जी में विद्रोह की, एक गहरे परिवतन की बौद्धिक धारणा तो थी पर उस धारणा को प्रकाशित करने की उनकी प्रणाली या साधन क्रान्तिकारी न थे। इसलिये वह साहित्य के ऊँचे स्तर तक ही रह गई। साधारण लोग आज भी उसे समझ नहीं पाये हैं और साधारण तो क्या बड़े बड़े समीक्षकों और आचार्यों में भी कदाचित् ही किसी ने उसे ठीक २ समझा हो।

इसमें कुछ तो 'प्रसाद' जी की मनःस्थिति का दोष था औ कुछ परिस्थिति की प्रतिकूलता इसका कारण थी। जब मैं प्रसाद जी की मनःस्थिति के दोष की बात कहता हूँ तो मेरा मतलब यह है कि उनके संस्कार और उनके मन की रचना कुछ ऐसी थी कि वे विद्रोह के किसी क्रियात्मक आन्दोलन का नेतृत्व करने की क्षमता नहीं रखते थे, उनकी निस्संगता की धारणा भी इसमें बाधक थी। निस्संग रहते हुए साहित्य या समाज में कोई विद्रोह खड़ा नहीं किया जा सकता और न साहित्य या समाज को विद्रोह की अनुभूति ही कराई जा सकती है। दूसरी बात यह कि समय और परिस्थिति उनके अनुकूल न थी। जब उन्होंने हिन्दी में नई विचार-धारा लाने का प्रयत्न आरम्भ किया, साहित्य कुछ थोड़े से लोगों की चीज़ थी; विनोद की एक सामग्री। जीवन में उसका प्राधान्य तो क्या, जीवन के साथ उसका घनिष्ठ सम्पर्क भी नहीं रह गया था। लोग जीवन की रचना में साहित्य के महान् सन्देश को भूल गये थे। इसलिए प्रसाद जी के प्रयत्नों को ठीक २ समझने और उनके प्रति संवे-

दनशील होने, उनसे उपयुक्त तत्व ग्रहण करने की मनोदशा हिन्दी की न थी। हिन्दी ऐसे विद्रोह या क्रान्तिकारी विचार के लिये तैयार न थी। हिन्दीभाषी जनता आज भी नवीनता के प्रति सबसे अधिक असंवेदनशील है। १६२० के बाद भी उसकी गतानुगतिकता निराला के नवीन छन्दों तक के लिए तैयार न थी और मुझे वे दिन भली भांति याद हैं जब विरोध और निन्दा का एक तूफ़ान निराला जी पर फूट पड़ा था और वह हिन्दी से निराश होने लगे थे। जब हिन्दी 'फार्म' में, ढांचे में परिवर्तन के प्रति इतनी अनुत्सुक थी तब अन्तः परिवर्तन के लिए और उससे भी पहले, वह क्यों तैयार होती ?

चौथी बात यह कि प्रसाद जी कुछ ऐसी परिस्थितियों को लेकर पनपे थे कि उनके जीवन में और उनके काव्य में भी कम-से-कम बाह्यतः सामन्ती वातावरण (Feudal Atmosphere) व्याप्त-सा दीखता था। इसलिए थोड़े से जो लोग मानसिक दृष्टि से उग्र परिवर्तन या विद्रोह के लिये तैयार थे वे भी भ्रम में पड़ गए और उनको ठीक-ठीक समझ न सके।

पर मेरा ख्याल है कि एक दृढ़ बौद्धिक आधार को लेकर चलने वाला आदमी स्वभावतः (Temperamentaly) क्रांतिकारी नेतृत्व नहीं कर सकता। क्योंकि विद्रोही मन-स्थिति एकांगी होती है और जीवन की परिपूर्ण दृष्टि को ग्रहण नहीं कर सकती इसीलिए प्रसाद जी ने इस मनोदशा के प्रति कुछ विशेष उत्साह प्रदर्शित

नहीं किया और केवल उसके बौद्धिक पक्ष को लेकर ही अपना काम चुपचाप करते गये।

❀ ❀ ❀

'प्रसाद' जी का दूसरा दोष यह है कि उन्होंने शैली को मांजने और परिष्कृत करने की परवा बहुत कम की। उनके चित्रणों में रंग तो खूब है, पर 'फार्म' का, आकृति का विकास कुछ बहुत अच्छा नहीं हो पाया है। प्रेमचन्द की तरह उनकी शैली स्वाभाविक, सुबोध और सादी नहीं है। उनके रंग बहुत ज्यादा गहरे हो गए हैं और शब्दों के निर्वाचन पर ध्यान बहुत कम दिया गया है। संस्कृत के शब्दों की अधिकता है। यह स्वतः कोई दोष नहीं और मैं तो संस्कृत शब्दों को शैली के निर्माण में प्रधान स्थान देने वालों में से हूँ; पर कहीं २ बिल्कुल अप्रचलित शब्द आ जाते हैं और धारा के प्रवाह को एकाएक धक्का सा लगता है। समस्वरों के बीच विषमस्वर झनझना उठता है। 'प्रसाद' जी पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव इतना है कि हिन्दी कभी कभी उसके बोझ से दब जाती है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व धूमिल पड़ जाता है। हिन्दी व्याकरण के प्रति भी वह कुछ विशेष जागरूक नहीं दिखाई पड़ते। इस जगह उदाहरण देकर विस्तार करने का अवसर नहीं है।

'फार्म' के प्रति यह अनाग्रह 'प्रसाद' जी के व्यक्तिगत जीवन में हमने खूब देखा है। उन्होंने अपनी मालियत, सम्पत्ति बढ़ाने की कभी क्रियात्मक चेष्टा न की। जो है, सो है, कुछ इस तरह का भाव उनका था। अभाव के बीच भी उनका वही हँसमुख चेहरा,

यही आनन्दी स्वभाव रहता। यह सब कुछ साधारण सिद्धि नहीं थी कि विरोध में, अभाव में, दुःख में और उत्तेजक परि-स्थितियों में भी वह अपनी शालीनता और अपनी मृदुता तथा सज्जनता के ऊंचे स्थान से एक क्षण के लिये च्युत न होते थे। अवश्य ही उनके अन्दर कोई ऐसी गहरी शान्ति का स्रोत था, जो उनको हर स्थिति में समरस और स्थिर रखता है। और जैसा कि गांधी जी ने एक बार बातचीत में कहा था, यह एक बहुत बड़ी सिद्धि है।

इसी कारण 'प्रसाद' जी व्यक्तिगत जीवन में इतने मनोहर, इतने प्रेमल और प्रेमयोग्य थे। उनकी सबसे बड़ी प्रशंसा जो की जा सकती है, यह कि वह सज्जनता का नमूना थे और एक श्रेष्ठ संस्कृति के प्रतिनिधि थे। उनका प्रकट और साहित्यिक जीवन जितना महान् था, उससे उनका निजी जीवन कहीं अधिक सुन्दर था।

❀ ❀ ❀

मैंने वर्षों पहले, एक बार लिखा था कि हिन्दी में केवल 'प्रसाद' जी ही अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से रवीन्द्र की याद दिलाते हैं। आज वह बात बहुत से लोग कह रहे हैं। मैं यह मानता हूं कि 'प्रसाद' जी में प्रतिभा और शक्ति रवीन्द्रनाथ से कुछ कम न थी पर अपने यश-विस्तार के लिये रवीन्द्रनाथ-सी सुविधायें या साधन उनके पास न थे। उनकी सबसे बड़ी कमी यह थी अंगरेज़ी भाषा के ऊपर उनका वैसा अधिकार न था; न वह

भाषण, प्रचार, वक्तव्य देने और अधिक-से-अधिक अपना विस्तार करने की ओर ही विशेष सचेष्ट थे। वह चुपचाप काम करते रहते थे। यात्राएँ करने और अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा हिन्दी या और भाषाओं के विचारकों एवं साहित्य-सेवियों के सम्पर्क में आने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। उनके निकट के लोग जानते हैं कि इसमें उनका कोई अहंकार नहीं था, पर वह कुछ तो स्वभावतः इन बातों के अयोग्य थे और कुछ परिस्थितियाँ इसमें बाधक थीं। इसे मैंने सदा उनकी एक बड़ी 'ट्रेजेडी' समझा है क्योंकि मेरा यह विश्वास रहा है कि यदि उनको उतनी सुविधाएँ और साधन प्राप्त होते जो रवीन्द्रनाथ को प्राप्त थे तथा हैं तो वे एक भारतीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कवि एवं साहित्य-स्रष्टा के रूप में पूजे जाते। दुःख तो यह है कि विदेशी साहित्यकारों से 'हिपनोटाईज्ड' हम लोगों ने उनकी प्रतिभा की दृढ़ भित्ति और श्रेष्ठता पर गम्भीरता के साथ कभी ध्यान न दिया।

हिन्दी साहित्य की उद्वेग से भरी हुई विषम धाराओं और तूफ़ानी लहरों के बीच 'प्रसाद' जी जिब्राल्टर की दृढ़ चट्टानों की तरह स्थिर थे और मुझे इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि आने वाली पीढ़ियां उनकी देन की महत्ता को अर्घ्य देंगी।

———

Rup Kishori Bhan
Bhushan

Roll 12

मैं हूं तुम्हारी

N R.K. Dhar

This Book belongs

Head

Rup Kishori [illegible]

Rup Kishori
Dhar

my dear brother
~~Dear Chhaganlal~~
[illegible]
Bl[illegible]